Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

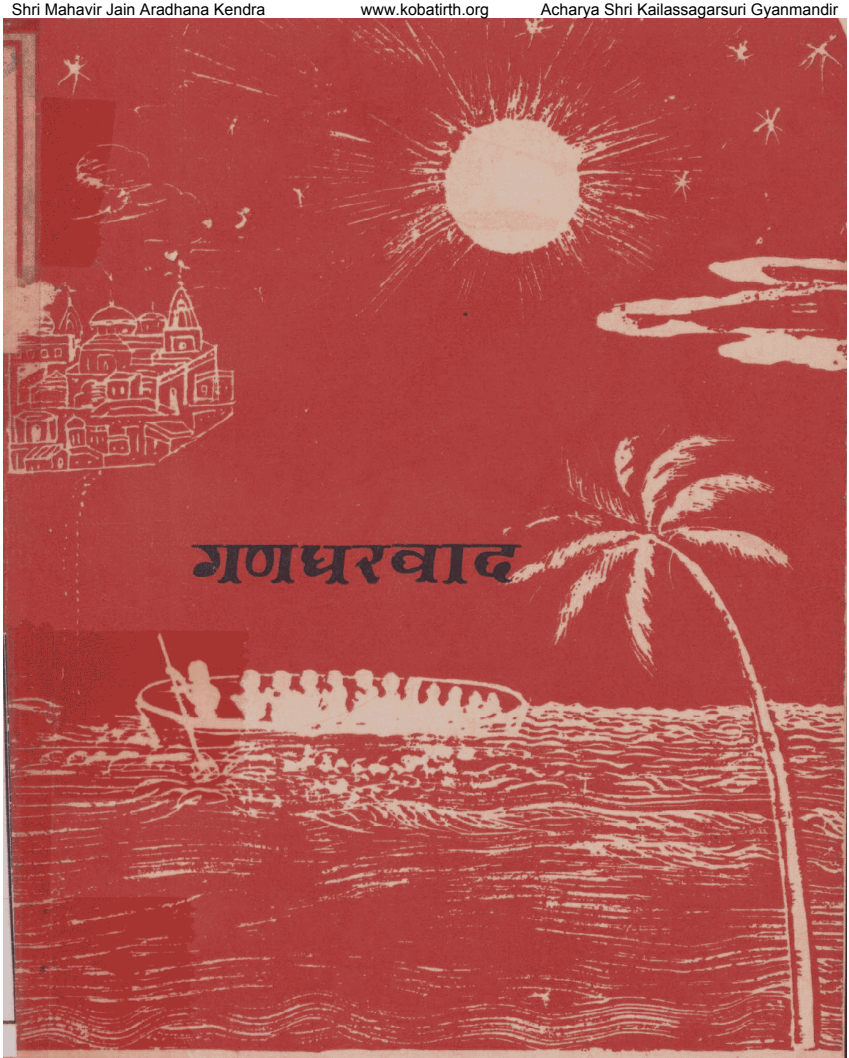

गणधरवाद

पू० पन्यासप्रवर श्री भानुविजयजी महाराज

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिव्यदर्शन प्रकाशन (हिन्दी) पुष्प-१

गणधरवाद

(आत्मा-कर्म-बन्ध-पंचभूत-स्वर्ग-मोक्षादि तत्त्व-चर्चा)

लेखक :
स्व० पू० सिद्धान्तमहोदधि आचार्य भगवन्त
श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य
पंन्यासजी श्री भानुविजयजी महाराज

प्रकाशक :
श्री जैन साहित्य प्रकाशन मण्डल (दिव्यदर्शन प्रकाशन विभाग)
आत्मानन्द जैन सभा भवन
घी वालों का रास्ता, जयपुर-३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्राप्तिस्थान :
आत्मानन्द जैन सभा भवन
घी वालों का रास्ता
जयपुर–३

प्रूफ संशोधनादिकर्ता :
पू० मुनिराज श्री पद्मसेनविजयजी महाराज

मूल्य : रु० १.५० न० पै०

मुद्रक :
अजन्ता प्रिण्टर्स
घी वालों का रास्ता
जयपुर–३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रस्तावना

आर्यसंस्कृति की नींव आत्मा व कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है, परन्तु पाश्चात्य संस्कृति एवं भौतिकवाद से प्रभावित कई मानव, आत्मा के पुनर्जन्म के अनेक दृष्टांत प्राप्त होने पर भी, आत्मा व कर्म को मानने से इनकार करते है । इसके फलस्वरूप में आत्महित-साधना, पापत्याग, एवं हृदय की शान्ति से वे मानव वंचित रहते हैं ।

अतः आत्मा एवं कर्म के सिद्धान्त को श्रद्धेय कराने हेतु एवं आत्मोन्नति के लक्ष्य से यह पुस्तक प्रकाशित की गई है । इसमें आत्मा कर्म, पंचभूत, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि पर ठोस युक्ति पूर्वक चिंतन, परामर्श, विश्लेषण किया गया है । परमात्मा श्री महावीर प्रभु के ११ गणधरों ने दीक्षा स्वीकार के पहले जो प्रभु के साथ आत्मा कर्म आदि पर वाद प्रतिवाद किया था उस पर आधारित होने से इसका नाम 'गणधरवाद' रक्खा गया है ।

विद्वान् लेखक पूज्य पन्यास श्री भानुविजय जी महाराज साहब ने इस पुस्तिका में मानों गागर में सागर भर दिया है । इन्द्रभूति एक-महान् विद्वान ब्राह्मण किस अभिमान से प्रभु के पास आते है कैसे तर्क से आत्मा को इन्कार करते हैं; इसके उत्तर में आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है उस पर प्रभु कौन कौन अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते हैं, इसी तरह अग्नि भूति आदि अन्य विद्वानों के साथ हुई चर्चा में अतीन्द्रिय कर्म की सिद्धि, राग-द्वेष-हिंसा से कर्म-निष्पत्ति, 'अकस्मात्' का विश्लेषण, पुण्यानुबंधी आदि चतुर्भंगी, अमूर्त जीव पर मूर्त कर्म का कैसे सम्बंध, शरीर यही आत्मा क्यों नहीं, बौद्धों के क्षणिकवाद की न्यूनता,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ईश्वर जगत्कर्ता नहीं, सर्वशून्यता व 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यह असंगत कैसे; अनेकान्तवाद क्या; पुनर्जन्म समान ही क्यों नहीं, संसार का अन्त क्यों नहीं, स्वर्ग-नरक कैसे वास्तविक है, पुण्य व पाप क्यों स्वतन्त्र, परलोक क्यों, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य व मोक्ष क्या, मोक्ष से पुनरागमन क्यों नहीं, विषयसुख दुःख-रूप क्यों ?....इत्यादि विषयों का तर्कपूर्ण विवेचन इस पुस्तिका में किया गया है।

जिनागम-शास्त्र 'श्री विशेषावश्यक भाष्य', 'श्री नंदीसूत्र टीका', 'श्री रत्नाकरावतारिका' आदि शास्त्रों से इस पुस्तक की रचना की गई है। ग्रीष्मावकाश में बम्बई समिति द्वारा जगह-जगह आयोजित 'श्री जैन धार्मिक शिक्षण शिविर' में उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों को पढ़ाने हेतु इसका गुजराती संस्करण तो हो चुका किंतु इसकी हिन्दी-भाषी देशों में कमी महसूस की जा रही थी अतः इस कमी की पूर्ति हेतु इसका हिन्दी भाषा में रूपान्तर किया गया है।

गुर्जर भाषा में जैन धर्म का विपुल साहित्य है परन्तु हिंदी भाषा में इसका अभाव सा है। इसकी पूर्ति हेतु 'जैनसाहित्य प्रकाशन मण्डल' की स्थापना की गई है। इसका उद्देश्य जैन धर्म के तत्वज्ञान, नैतिक-धार्मिक जीवन, मोक्ष-मार्ग, कहानियां, रंगीन चित्रावलि आदि प्रकाशित करना है। इसकी एक शाखा 'श्री दिव्य दर्शन प्रकाशन' है जिसका यह पहला पुष्प आपके हाथ में आ रहा है। आशा है कि इसके सौरभ से आप सुवासित होंगे और इसकी पंच वर्षीय योजना से लाभ उठायेंगे।

निवेदक

आत्मानन्द सभा भवन,
जयपुर।
विजयादशमी वि.सं.२०२६

धनरूपमल नागोरी एम. ए. साहित्य रत्न
प्रकाशन मंत्री :
जैन साहित्य प्रकाशन मंडल, जयपुर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पंच-वर्षीय-योजना

जैन दर्शन रत्नाकर की तरह अथाह है, पर हिन्दी भाषा में इसकी दुर्बल सलिला ही प्राप्त होती है। आज अशान्ति की धधकती ज्वाला में जलने वाले मानव को परम पुनित जैन संस्कृति का पियूष शान्ति प्रदान कर, आत्मोन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने में सक्षम है। इसके अमूल्य ग्रन्थ रत्नों का मुद्रापण कर जनता के सामने प्रस्तुत करने का हमारा मुख्य लक्ष्य है। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर 'जैन साहित्य प्रकाशन मंडल' की स्थापना की गई है। जिसके अन्तर्गत 'दिव्य-दर्शन-प्रकाशन' भाग में तत्वज्ञान, नैतिक-धार्मिक जीवन, मोक्षमार्ग, रसपूर्ण बोध-कथायें, मनोरम चित्रावलियां आदि साहित्य-प्रकाशित करेंगी। साहित्य के ज्यादा से ज्यादा प्रचार हेतु पंचवर्षीय योजना का आयोजन किया गया है। जो निम्न प्रकार है।

जो महानुभाव रु. ३१) संस्था को प्रदान करेगा उन्हें पांच साल तक कुल ४०) के मूल्य की पुस्तकें दी जायेंगी। पुस्तक का वितरण संस्था के कई केन्द्रों से होगा। मानव जीवन की सफलता सम्यक्ज्ञान का निर्मल प्रकाश प्राप्त कर आत्मोन्नति करने में है। आज की नई पीढ़ी धर्म-संस्कृति से प्रायः वंचित ही रहती है, क्योंकि स्कूल कालेज आदि में यह शिक्षण नहीं मिलता है। आज की इस दुःखद परिस्थिति को देखते हुए धार्मिक तत्त्वज्ञान की पुस्तकों का प्रकाशन करना अत्यावश्यक हो रहा है, जिससे भारत की भावी पीढ़ी आत्मिक ज्ञान के आलोक से वंचित न रहे और चरित्रवान एवं आत्मोन्नति में अग्रसर हो।

अतः आप सब महानुभावों से हमारा नम्र निवेदन है कि पंच वर्षीय योजना के सदस्य बन कर हमारे उत्साह में अभिवृद्धि करें।

आत्मानन्द भवन
जयपुर
विजयादशमी वि.सं. २०२६

जतनमल लुणावत, उदयचन्द मेहता,
धनरूपमल नागोरी, रणजीतसिंह भंडारी
सुशीलकुमार छजलानी, मन्त्रीगण,
जैनसाहित्य प्रकाशन, भण्डार जयपुर।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय-क्रम

महावीर प्रभु के पास इन्द्रभूति का आगमन				१
गणधर–१.	इन्द्रभूति...	आत्मा है ?	इसकी चर्चा	१०
,, २.	अग्निभूति	कर्म है ?	,, ,,	३६
,, ३.	वायुभूति	शरीर यही आत्मा ?	,, ,,	५७
,, ४.	व्यक्त	पंचभूत सत् ?	,, ,,	६६
,, ५.	सुधर्मा	समान ही पुनर्जन्म ?	,, ,,	८०
,, ६.	मंडित	बंध-मोक्ष हैं ?	,, ,,	८४
,, ७.	मौर्यपुत्र	देवता (स्वर्ग) है ?	,, ,,	९०
,, ८.	अकंपित	नारक हैं ?	,, ,,	९३
,, ९.	अचलभ्राता	पुण्य-पाप भिन्न २ हैं ?	,, ,,	९५
,, १०.	मेतार्य	परलोक है ?	,, ,,	१०२
,, ११.	प्रभास	मोक्ष है ?	,, ,,	१०५

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

गणधरवाद : अनुक्रमणिका

विषय	पृ० सं०
महावीर प्रभु की साधना : केवलज्ञान में क्या ?	१
११ ब्राह्मण और उनके संदेह	३
इन्द्रभूति का अभिमान : लोगों की प्रभुप्रशंसा	४
वादार्थ इन्द्रभूति प्रभु के पास	५
प्रभु-दर्शने आश्चर्य और प्रभु की निरूपमता का भान	७
प्रभु की वेद-ध्वनि समझाने की सुन्दर रीति	११
गणधर–१ इन्द्रभूति	
आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं, अनुमान व अन्य सब प्रमाणों से असिद्ध	१२
आत्मा ६ प्रकार से प्रत्यक्ष-सिद्ध	१६
आत्म–साधक अनुमान, देहगाड़ी का प्रवर्तक अश्व आत्मा	१८
मन-वाणी-देहप्रवृत्ति को रोकने वाली आत्मा	१८
अन्वय–व्यतिरेक व्याप्ति, शरीर एक यन्त्र	१९
महल, कारखाना, भोग्य भोक्ता	१९
जीव माली, इन्द्रियां करण, इन्द्रियों की प्रवृत्ति किसी के आदेशानुसार, किसी से नियमित	२०
इन्द्रियों के बीच कलह आत्मशम्य	२१
शरीर ममत्व की वस्तु, मानसिक सुख–दुःख का भोक्ता	२२
माता से विलक्षण गुण–स्वभाव	
पुत्र में स्तन–पान संस्कार	२२
युगल पुत्र में रुचि आदि का भेद : उपयोग कषाय लेश्यादि का धर्मी	२३
ज्ञानादि गुण के अनुरूप गुणी सत् ही का संदेह-भ्रम-प्रतिपक्ष-निषेध	२४
निषेध ४ का	२५
'जीव' व्युत्पत्तिमान शुद्ध पद : जीव के स्वतन्त्र पर्याय शब्द : अन्तिम प्रिय	२६
पूर्व जन्म स्मरण : आत्मा अर्थात् क्या ?	२७
उपमान अर्थापत्ति और संभव प्रमाणों से आत्मसिद्धि	३०
आत्मा के सम्बन्ध में वेदान्त सांख्य योग दर्शन	३१
न्याय–वैशेषिक–बौद्ध दर्शन	३२
दया-दान-दम से आत्म-सिद्धि	३३

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृ० सं०
'विज्ञान घन एव....'का अर्थ, इन्द्रभूति की दीक्षा	३४
गणधर २: अग्निभूति कर्म विषयक शंका	३६
श्रद्धा की आवश्यकता	३७
न दिखने के ११ कारण	४०
कर्म की सिद्धि : परलोकी है : कर्म विचार संगत है	४१
कर्म यह हिंसा, राग, द्वेष और कर्म से जन्य हैं ।	४२
'अकस्मात् जन्म लेते हैं' के चार अर्थ	४३
पुण्यानुबन्धी आदि ४	४४
कर्म–सिद्धि के अनुमान	४५
दान–हिंसादि का फल	४७
सामग्री समान होने पर भी भेद कर्म से : मूर्त का कारण मूर्त	५०
आकाशीय विकार अनियत, जब कि सुख दुःखादि नियत	५२
अमूर्त आत्मा को मूर्त कर्म क्यों लगता है ?	५२
ईश्वर कर्ता क्यों नहीं ?	५३
'पुरुषेवेदं सिन' का अर्थ	५४
विधिवाद, अर्थवाद, अनुवाद	५५
अग्निभूति की दीक्षा	५६

विषय	पृ० सं०
गणधर ३–(वायुभूति) शरीर ही जीव है या क्या ?	
संदेह का कारण: जीव भिन्न इसके तर्क	५८
प्रत्येक में हो तभी समुदाय में हो, आवारक व्यंजक नहीं, ज्ञान नियामक ? अथवा प्राण ?	५९
मृत्यु होने पर वातपित्तादि सम-विकार : साध्य अथवा असाध्य ? वस्तु में दीखता धर्म अन्य का कैसे ?	६०
आत्मा इन्द्रिय से भिन्न क्यों ? शरीर कर्ता नहीं परन्तु कर्म कर्ता : क्षणिक-वादी की त्रुटियां, : योग–उपयोग–लेश्या आदि का देह के साथ मेल नहीं	६२
गणधर ४ (व्यक्त) पंच भूत सत् या असत्	६५
सर्वशून्यता के पांच तर्क	६६
सर्वशून्यता का खंडन	६८
असत् का संदेह नहीं, संदेह हो वह ज्ञानपर्याय : स्वप्न स्वयं असत् नहीं	६९
स्वप्न अस्वप्न सत्य असत्य आदि भेद क्यों ?	६९

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय पृ० सं०

मृगजल का ज्ञान स्वयं असत् नहीं ७०

(१) वस्तु परस्पर सापेक्ष नहीं

किन्तु स्वतः सिद्ध है । वस्तु के दो स्वरूप:सापेक्ष-निरपेक्ष । स्वपर का भेद सर्वशून्यता में घटित नहीं: वस्तु १. स्वतः सिद्ध २. परतः सिद्ध, ३. उभय सिद्ध, ४. नित्यसिद्ध

(२) वस्तु और अस्तित्व का सम्बन्ध ७२

शून्यवादी का ज्ञान, वचन सत् या असत् ७३

(३) कौन जन्मे ? ७३

(१) उत्पन्न, (२) अनुत्पन्न, (३) उभय, (४) उत्पद्यमान ७३

(४) उत्पादक सामग्री घटित हो सकती है। ७५

शून्यता का वचन सत्य या मिथ्या ? तिलमें से ही तेल,वालू में से क्यों नहीं ?

(५) अग्रभाग कहने से ही परभाग सिद्ध ७६

सर्व शून्य में अग्र-पर क्या ? संशय सत् का या असत् का ? पंच-भूत और पांच स्थावर कार्य की सिद्धि । हिंसा अहिंसा कहां ?

गणधर ५ [सुधर्मा]

परभव समान या असमान ८०

असमान के तर्कः द्रव्ययोग से भी सर्प–सिंहादि : भव का बीज कर्म, पर भव नहीं ८०

हिंसा–दानादि के फलभेदः 'स्वभाव से भवान्तर' वहां स्वभाव क्या ? ८१

वस्तु के समानासमान पर्याय ८२

गणधर-६ (मंडित)

आत्माके बन्ध मोक्ष हैं ? ८४

जीव और कर्म में प्रथम कौन ? अगर साथ तो अनादि का नाश नहीं । ८४

भव्यत्व क्या ? संसार खाली क्यों न हो ? आत्मा सर्वगत हो तो क्रिया अघटित ८६

अलोक–धर्माधर्म की सिद्धि ८९

गणधर-७ (मौर्य-पुत्र)

देवता हैं क्या ? ९०

समवसरण में ही प्रत्यक्ष : ज्योतिष्क विमान : माया रचना करने वाले ही देवः उत्कृष्ट पुण्य का फल, जातिस्मरण वाले का कथन ९०

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय	पृ० सं०
विद्यामंत्र : भूताविष्टः देव के आने न आने के कारण ।	९२
गणधर–८ (अकंपित) नारक है क्या ?	९३
इन्द्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं	९३
उत्कृष्ट पाप का फल कहां ?	९४
गणधर–९ [अचल भ्राता] क्या पुण्य पाप है ?	९५
१. अकेला पुण्य, २. अकेला पाप, ३. मिश्र, ४. स्वतन्त्र उभय, ५. एक भी नहीं मात्र स्वभाव कारण ।	
१.२,३,५, ये चार विकल्प गलत	९५,
कारणानुमान–कार्यानुमान ।	
पुण्य पाप अरूपी क्यों नहीं ? कारण के समानासमान स्वपर पर्याय	९६
मूर्त ब्राह्मी का अमूर्त ज्ञान पर प्रभाव	९८
अकेले पुण्य के अति ह्रास से दुःखोत्कर्ष न बने	९८
निश्चय से मिश्रयोग नहीं होता:,	
संक्रम में मिश्रित योग नहीं :	
पुण्य की ४६ प्रकृतियां	९९

विषय	पृ० सं०
गणधर १० (मेतार्य) परलोक है क्या ?	१०२
परलोक की युक्तिया, घड़े में नित्या-नित्यता : जो उत्पत्तिमान हो वह नित्य नहीं होता,	१०३
उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ।	१०३
गणधर ११ (प्रभास) मोक्ष	१०५
दीपक के पीछे अंधकारःपुद्गल–प्रयोग से स्वर्ण मिट्टी का वियोगः नारक तिर्यंचादि ये जीव के पर्यायमात्र	१०५
जीव कर्म से सर्जित नहीं । धर्म,–१ सहभू, २–उपाधि-प्रयोज्य ।	
अनादि भी राग द्वेष का नाश	१०७
विकार, १,–निवर्त्य. २–अनिवर्त्य	
'अशरीरं वा वसंत' का अर्थ,	
मोक्ष में ज्ञान की सत्ता	१०८
ज्ञान सर्व विषयक क्यों ? मोक्ष में सुख कैसे ? विषय सुख–रति अरति का प्रतिकार मात्र	११०
संयोग तक सुख क्यों नहीं ?	१११
संसारसुख सांयोगिक–सापेक्ष–विपाककटु	१११
११ को त्रिपदी और गणधर-पद	११२

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ॐ श्री महावीराय नमः

गणधरवाद

प्रथम गणधर : 'आत्म-संशय'

त्रिलोकनाथ भगवान् श्री महावीर परमात्मा आज से २५०० वर्ष पूर्व हुए थे। वे आजन्म महाविरागी थे तथा यह भी निश्चित् रूप से जानते थे कि इसी भव में मोक्ष-प्राप्ति होगी, फिर भी ३० वर्ष की वय में मार्गशीर्ष (गु० कार्तिक) कृष्णा १० को गृहस्थावास छोड़कर प्रतिज्ञापूर्वक अणगार बने, चारित्र ग्रहण कर अप्रमत्त मुनि बने! पर कारण क्या था? चारित्र ही जीवन का कर्तव्य है; इसी से मोक्ष प्राप्त होता है। चारित्र ग्रहण करते ही उनमें चौथा मनः पर्याय ज्ञान उत्पन्न हुआ। प्रत्येक तीर्थंकर देव के लिए ऐसा नियम है कि वे गर्भ में से ही तीन ज्ञान वाले होते हैं और दीक्षा अंगीकार करते समय चौथा ज्ञान उत्पन्न हो ही जाता है। दीक्षा लेने के पश्चात् प्रभू श्री महावीर देव ने १२॥ वर्ष तक घोर तपस्याएं कीं तथा प्रायः सदा कायोत्सर्ग में ही रहे। इस काल में दैविक तथा मनुष्य-तिर्यंचादि के भयंकर उपसर्ग और शीत-तापादि के घोर परिषह सहन किये। १२॥ वर्ष में निद्रा का समय कितना? एक मुहूर्त-मात्र! अहा! कैसी जागृति! कैसी लगन! कवि कहते हैं :—

'साडा बार वरस जिन उत्तम वीरजी भूमि न ठाया हो,
घोर तपे केवल लह्या तेहना पद्मविजय नमे पाया'

—नवपदजी पूजा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निरालम्ब, आश्रयरहित, निर्मल निर्लेप, गुप्तेन्द्रिय, रागद्वेष-विहीन, निर्मम, अप्रमत्त.....इत्यादि विशुद्ध आत्मस्वरूप वाले प्रभु ने ऋजुवालुका नदी के तीर पर वैशाख शुक्ला १० की सायं केवलज्ञान प्राप्त किया और वे लोकालोक के ज्ञाता बने।

केवलज्ञान में क्या ? अब तो सर्वज्ञ बने हुए प्रभु सभी जीवों तथा सारे पुद्गलों के अनंतानंत काल के पर्याय (अवस्थाएं) दृष्टि सम्मुख हथेली में पड़े हुए आवँले की भाँति स्पष्ट देखते और जानते हैं। अनादि काल से आज तक जो अनंत जोव सिद्ध हो चुके हैं और भविष्य में सिद्ध होंगे उनकी अपेक्षा अनंतगुणे जीव एक एक निगोद में (साधारण वनस्पतिकाय के शरीर में) हैं। इनमें से प्रत्येक जीव के असंख्य आत्म-प्रदेश पर अनंत कर्म-स्कंध हैं। इन स्कंधों में से प्रत्येक में अनंत अणु हैं। इन अणुओं में भी प्रत्येक के अनंत भाव हैं (भाव-सार्वकालिक अवस्थाएं) इस प्रकार सभी जीवों-अजीवों के अनन्त भाव हैं। सर्वज्ञ श्री महावीर प्रभु यह सब प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं। ऐसे सूक्ष्म कर्म के विलक्षण स्वरूप और शुद्ध अरूपी आत्मा का स्वरूप तथा सूक्ष्म कर्म से आवृत अरूपी जीव का विचित्र मलिन स्वरूप जैसा केवलज्ञानियों ने देखा वैसा जिसके चित्त में जच जाय वह सचमुच इन केवलज्ञानी जिनेन्द्र देव की आज्ञा-सेवा में सच्चा रसिक बन सकता है। कवि का कथन उचित ही है :—

'केवली-निरखित सूक्ष्म अरूपी, ते जेहने चित्त वसियो रे,
जिन उत्तम पद पद्मनी सेवा, करवामां घणूं रसियो रे'।

श्री महावीर प्रभु अपापा नगरी के महासेन वन में पधारे। देवताओं ने रजत, स्वर्ण और रत्नमय तीन गढ़युक्त समवसरण की रचना की। देव, मानव एवं तिर्यंच आये। इन्द्र प्रभु से देशना देने के लिए प्रार्थना करते हैं।

"सुरपति आया वंदनकाज, भगते भराणा रे हो;
करे जिन पूजना रे।
जिनजी तूं भवजल तार, प्रभुजी तूं पार उतार,
सरस सुधा-शी रे हो, देई अम देशना रे.....'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कल्पना करें इस दृश्य की ! भावपूर्वक कल्पना करके मानो हम उस स्थल पर पहुँच गये हैं, और यह दृश्य, ये देवाधिदेव, और यह देशना देखकर-सुनकर आनन्द अनुमोदन के महासागर में स्नान कर रहे हैं। ऐसा भाव हृदय में स्फुरित हो तो साक्षात् जैसा लाभ हो; अपूर्व कर्म निर्जरा हो तथा आत्म-विशुद्धि हो।

११ ब्राह्मण—भावी गणधर :—इस अपापा में सोमिल नामक एक धनी ब्राह्मण यज्ञ करवाता था। इसमें उसने वेद शास्त्र के पंडित, चौदह विद्या के निष्णात ऐसे मुख्य ११ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया था। इनमें प्रत्येक के साथ सैंकड़ों विद्यार्थियों का परिवार था। ग्यारह में से प्रत्येक अपने आप को सर्वज्ञ मानता था, परन्तु कमी यह थी कि वेदों के अन्दर विरुद्ध दिखाई देने वाले वचनों से प्रत्येक को भिन्न २ तत्वों पर संदेह होता था। फिर भी स्वयं को सर्वज्ञ मानने की मूर्खता किस आधार पर ? भारी परिश्रम से विद्योपार्जन किया, अनेक शास्त्रों में विजय प्राप्ति की, इससे गहन आत्मविश्वास था, और सर्वज्ञ शब्द का बारीक व्युत्पत्ति-अर्थ उनके ध्यान में नहीं था अथवा उसका मोटा मोटा अर्थ जानते थे, इसीलिये न ?

११ संदेह :—११ ब्राह्मणों में (१) **इन्द्रभूति** गौतम को जीव का संदेह था। 'जगत में स्वतन्त्र सनातन आत्मा जैसी वस्तु है या क्या ?' ऐसी शका इनके मन में थी। (२) ब्राह्मण पंडित **अग्निभूति** गौतम को कर्म का संदेह था, अर्थात् जीव ही का किया हुआ काम होता है या कर्म का किया हुआ ? कर्म-सत्ता जैसी भी कोई वस्तु होती है क्या ?' ऐसी शंका थी। (३) **वायुभूति** गातम के मन में 'तज्जीव तत् शरीर अर्थात् यह देह ही जीव है अथवा जीव देह से भिन्न है ?'—ऐसी शंका थी। ये तीनों ब्राह्मण भाई थे और प्रत्येक के साथ ५००-५०० विद्यार्थियों का परिवार था। (४) **व्यक्त** पंडित को पांच भूत के विषय में संदेह था, अर्थात् 'पृथ्वी, पानी आदि जो पांच भूत जगत में माने जाते हैं वे सत्य हैं अथवा स्वप्नवत् ?' ऐसी शंका थी। (५) **सुधर्मा**विद्वान् को

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संदेह था कि 'जीव यहां जैसा होता है वैसा ही दूसरे भव में भी होता है अथवा भिन्न होता है?'। इन दोनों के पास भी ५००-५०० विद्यार्थी थे। (६) **मंडित** ब्राह्मण को बंध के विषय में शंका थी। इन्हें होता था 'क्या जीव सदा शुद्ध बुद्ध तथा मुक्त रहता है अथवा इस पर किसी प्रकार का बंधन लगता है? और फिर उपाय से मुक्त बनता है?' (७) **मौर्यपुत्र** को देव का संशय था। 'स्वर्ग जैसी कोई वस्तु भी होती है क्या?' दोनों के पास ३५०-३५० विद्यार्थी पढ़ते थे। (८) इसी प्रकार **अकंपित** के मन में नरक के विषय में शंका थी। (९) **अचल भ्राता** को पुण्य के विषय में शंका थी। 'पुण्य कोई स्वतंत्र वस्तु है अथवा पाप के क्षय को ही पुण्य कहते हैं?' (१०) **मेतार्य** को परलोक के विषय में शंका थी। और (११) **प्रभास** नामक विद्वान् को मोक्ष के विषय में शंका थी। 'क्या मोक्ष जैसी कोई निश्चित् स्थिति है? क्या अनंत शाश्वत आत्म सुख है? या संसार पूर्ण होने पर जीव का क्या सर्वथा नाश हो जाता है?' आदि इनकी शंकाएं थीं। इनमें से प्रत्येक के पास ३००-३०० विद्यार्थी थे।

११ गणधर और उनके संदेह

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
इन्द्रभूति	अग्निभूति	वायुभूति	व्यक्त	सुधर्मा	मंडित	मौर्यपुत्र	अकंपित	अचलभ्राता	मेतार्य	प्रभास
आत्मा	कर्म	शरीर ही जीव	पंचभूत	सदृश जन्मान्तर	बंध	देव	नरक	पुण्य	परलोक	मोक्ष

ये मुख्य ११ ब्राह्मण और इनके ४४०० विद्यार्थी यज्ञ समारंभ में भाग ले रहे थे। वहां लोगों के गमनागमन और बातचीत से उन्हें पता चला कि कोई सर्वज्ञ आये हैं।

इन्द्रभूति का अभिमान—दूसरी ओर आकाश में से देवताओं को नीचे उतरते देखते हैं। ब्राह्मण प्रसन्नता से फूले नहीं समाते हैं। 'अहा! देखो,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अपने यज्ञ की कैसी अद्भुत महिमा है कि देवता भी खिंचे चले आ रहे हैं।' परन्तु जब ये देवता यज्ञ मंडप छोड़कर आगे बढ़ गए तब निराश इन्द्रभूति गौतम सोचते हैं 'अरे ! ये अज्ञानी देवता ! किस भ्रम में पड़ गए ? महान् गंगा-तीर्थ के पानी को छोड़कर कौए की भांति गड्ढे व गंदे पानी में ये कहां लीन हो रहे हैं। यह नया सर्वज्ञ फिर और कौन हुआ है ?' यहां विशेषता तो देखो; 'कौन नया सर्वज्ञ हुआ है ?' इतना भी जिसे पता नहीं, वह इन्द्रभूति गौतम अपने आप को सर्वज्ञ मानता है ! इतना ही नहीं, परन्तु अच्छी वस्तु भी जब अपने लिए लाभकारी न हुई अतः अंगूर को खट्टे बताने वाली लोमड़ी की भांति वह इनकी निन्दा तक करने को तैयार होता है। ईर्ष्या कैसी भयंकर वस्तु है। इन्द्रभूति सोचते हैं 'अहो ! पाखंडियों से मूर्ख तो छलित होते ही हैं, परन्तु ये तो देवता भी, जो विबुध कहलाते हैं ठगे गए हैं। पर नहीं, जैसा यह सर्वज्ञ हैं वैसे ही ये देव भी होंगे। ठीक ही कहा है 'बाज कबूतर उड़त हैं बाज कबूतर संग'। ऐसा कहकर मन को समझाते तो हैं परन्तु नये सर्वज्ञ को भूल नहीं सकते। अपने सिवाय अन्य कोई सर्वज्ञ कहलाये यह सहन नहीं होता।

हृदयस्थ विद्या का यह युग था। परिश्रम से ऐसी २ विद्याएं इन्होंने प्राप्त की थीं कि अच्छे अच्छे विद्वानों को इन्होंने पराजित किया था। इतना होते हुए भी मिथ्यात्व की विडंबना ऐसी है कि ये आगबबूला होकर सोच रहे हैं—'जगत में सूर्य एक ही होता है, म्यान में तलवार एक ही रहती है, गुफा में एक ही सिंह रहता है; इसी प्रकार जगत में सर्वज्ञ भी एक ही होता है; दूसरे सर्वज्ञ को मैं चलाने वाला नहीं'। वाह अमर्ष ! वाह असहिष्णुता ! ऐसा नहीं होता कि भले वही सर्वज्ञ रहे, मैं नहीं। इसी प्रकार इनके साथी अन्य दस ब्राह्मण अपने आप को सर्वज्ञ मानते हैं इसका भी कुछ नहीं ! क्यों ऐसा ? ये दसों इन्द्रभूति को बडा मानते थे, पूज्य गिनते थे, उन्हें आगे रखकर चलते थे। तो मनुष्य को मान की ही पिपासा है न ? मान-सम्मान के परवश होने के पश्चात् मान न मिलने पर सामने वाले में अनंत गुण हो तब भी आनंद नहीं, मित्रता नहीं, परन्तु ईर्ष्या और द्वेष !

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रभु की लोक प्रशंसा : इंद्रभूति द्वारा वाद की तैयारी :—लोग सर्वज्ञ श्री महावीर देव को नमन-वंदन कर लौट रहे हैं। इन्द्रभूति उनसे पूछते हैं, 'क्यों देख आए उन सर्वज्ञ को ? कैसा है वह ?' परन्तु यहां तो अतिशय सुन्दर अनुत्तरवासी देवताओं की अपेक्षा भी प्रभु का अनंतानंत-गुना सुन्दर रूप, देव-दुंदुभि, पुष्पवृष्टि, छत्र, भामंडल आदि आठ प्रतिहार्य, वाणी के ३५ गुण, यह सब भव्य शोभा लोग देख आए हैं, अतः हृदय में उनके प्रति मुग्धता, आकर्षण और प्रमोद अपरंपार है, फिर उत्तर में अभाव किस बात का हो ? लोग कहते हैं 'यदि तीनों लोक इन सर्वज्ञ प्रभु के गुण गिनने बैठ जाएं, परार्द्ध से भी परे गणना चली जाय और आयु का अन्त ही न हो तभी प्रभु के सभी गुणों की गणना हो सकती है।' इन्द्रभूति यह कैसे सुन सकते हैं ? वे चौंक उठे और बोले—वाह ! इसने तो लोगों को भी ठग लिया है। अब तो मैं एक पल भर भी नहीं रुक सकता। अभी ही जाता हूँ और उसे वाद में परास्त कर उसके मद और छल को चूर कर देता हूँ। जिस वायु ने बड़े बड़े हाथियों को उछाल फेंका, उसके लिए एक रुई के फाये को उड़ाना कौन सी बड़ी बात है ? पता नहीं सारे तिलों का तेल निकालते यह एक तिल कहां से शेष रह गया ? वादियों को जीत कर मैंने वादियों का दुष्काल कर दिया तब फिर यह वादी किस ग्राम में छिपा रह गया ? कुछ भी हो, मुझे जाना ही पड़ेगा'।

इस प्रकार सोच कर चलने की तैयारी करते हैं, पर इस बात का पता अग्निभूति को चल जाता है, और वे कहते हैं, 'भाई, आज तुम्हारे जाने की क्या आवश्यकता है ? एक कमल को उखाड़ने के लिए क्या ऐरावत हाथी की आवश्यकता होती है ? आप बैठिये, मैं जाकर जीत आता हूँ'। इन्द्रभूति कहते हैं—'अरे तू तो क्या, पर यह मेरा एक विद्यार्थी भी उसे जीत सकता है, परन्तु मुझ से यह दूसरे सर्वज्ञ का नाम सहन नहीं होता, इसीलिए मैं जाता हूं। उसे पराजित किये बिना अब रहा नहीं जा सकता। सती सौ वर्ष शील पालन करे परन्तु एक बार भी शील भंग करे तो वह सती नहीं। इस प्रकार यदि एक आधा भी वादी मुझ से पराजित हुए बिना रह जाय तो मेरी मान हानि हो जाय।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

बस इन्द्रभूति तैयार हुए। बारह तिलक किये, सुन्दर पीताम्बर तथा स्वर्ण की जनेऊ धारण की। पीछे पांच सौ विद्यार्थी-परिवार चल रहा है। किसी के हाथ में कमंडल है, कोई दूर्वाघास लिये है तो किसी के पास पुस्तकें। इन्द्रभूति के मन में उथल पुथल मच रही है कि 'मैंने कौन सी विद्या प्राप्त नहीं की है? व्याकरण, साहित्य, न्याय, वेद, ज्योतिष—सभी में मैंने पर्याप्त परिश्रम किया है। लाट देश के वादी तो बिचारे पता नही कहाँ भागे, द्राविड़ के वादी तो लज्जित ही हो गए। तिलंग वाले तो संकुचित होकर तिल जैसे हो गए तथा गुर्जर देश वाले तो जर्जरित ही हो गए।' यह सब क्या है? अपनी स्थिति की आलोचना और कोई ऐसी पूर्व भूमिका, कि इतना होते हुए भी यदि सामने वाले सर्वज्ञ के पास कोई नई एवं आश्चर्यपूर्ण वस्तु मिले तो वहां झुक पड़ना। सोचते ही सोचते मार्ग पूरा हो गया और यकायक प्रभु के दिव्य समवसरण के सामने आ खड़े हुए।

प्रभू को देखकर इन्द्रभूति चौंकते हैं :—ऊपर देखते हैं तो क्या दीखता है? अनुपम, अद्वितीय, अवर्णनीय, कल्पनातीत सौन्दर्यशाली रूप धारण करने वाले, इन्द्रों द्वारा जिनके चंवर डुलाये जा रहे थे, और देवांगनाएं जिन्हें एकटक से निरख रही थीं, ऐसे त्रिभुवनगुरु चरम तीर्थपति श्री महावीर परमात्मा को देखते ही इन्द्रभूति सोच में पड़ जाते हैं कि ये कौन होंगे? पहिचानने का प्रयत्न करते हैं। 'क्या ये विष्णु हैं? नहीं, विष्णु तो श्याम हैं और ये तो सुवर्ण वर्ण की काया वाले हैं। तो ब्रह्मा होंगे? ब्रह्मा तो वृद्ध हैं और ये तो युवा लगते हैं। तो क्या इन्हें शंकर कहूं? शंकर तो शरीर पर राख मलते है और हाथ तथा गले में सर्प रखते हैं जब कि इनमें ऐसी एक भी बात नहीं है। तो क्या मेरु होंगे? नहीं, मेरु तो कठिन है जब कि इनकी काया तो मक्खनपुञ्ज के समान कोमल एवं सुकुमार है। तब तो ये सूर्य भी नहीं हो सकते क्योंकि सूर्य तो देखने वाले को प्रखर ताप से तप्त कर देता है और इन्हें तो जैसे जैसे देखते हैं वैसे वैसे अधिक शीतलता का अनुभव करते हैं। बस, तब तो ये चंद्र होंगे। चंद्र का तेज सौम्य कान्तिमय होता है। परन्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं, चंद्रमा तो कलंकयुक्त होता है, जब कि इनमें तो एक भी दोष नहीं दिखता। तो फिर ये कौन होंगे ?' इन्द्रभूति इन्हें पहिचानने की पूरी कोशिश करते हैं। इस हेतु वे अपने पढ़े हुए दर्शन शास्त्रों का मन में पुनरावर्तन करते हैं। उनमें से तुरन्त खोज निकाला कि 'हां, ये तो जैनों द्वारा मान्य सर्व दोषों से रहित अनंत गुणों से संपन्न चौबीसवें तीर्थंकर होने चाहियें।' ढूँढ तो निकाला परन्तु अब घबराए। 'अरे ! इनके साथ मुझे वाद करना है ?'

मिथ्यात्व की सुलभता :—प्रभु को पहिचाना तो सही, परन्तु प्रमाण-भूत मानने में अभी देर है। विलम्ब क्यों ? मिथ्यात्व टलने में विलम्ब के कारण। पुण्य से जिनेश्वर देव का साक्षात्कार हो, परन्तु मति 'सु' न बने तब तक क्या होवे ? पूर्व भव की किसी भूल से यदि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बंधन हो गया हो तो उसके विपाक के समय कैसी दशा होती है ? मिथ्यात्व बंधन के लिये दूर भी कहां जाना पड़ता है ? देश काल के नाम पर, अथवा विज्ञान के विकास युग के नाम पर, श्री सर्वज्ञ भगवान के वचन में शंका और अश्रद्धा की नहीं कि तुरंत मिथ्यात्व आत्मा के साथ चिपका नहीं। मिथ्यात्व मत की दिखाई देने वाली सुशोभित वस्तु से स्वमत की निंदा की नहीं कि फलस्वरूप मिथ्यात्व की प्राप्ति हुई नहीं। श्री संघ साधु और साधर्मिक का विनाश करो अथवा किसी को धर्म, तप, अथवा वैराग्य के रंग में से पतित करो कि लगा मिथ्यात्व।

इन्द्रभूति अभी तक मिथ्यात्व में फंसे हुए होने से अनंत गुण-निधान परमात्मा के सामने होते हुए भी अभी तक इनकी शरण का स्वीकार नहीं करते और मन ही मन घबरा रहे हैं, पश्चाताप कर रहे हैं, कि अरे ! मैं यहां कहां से आ फँसा ? रत्नजडित सुवर्ण के सिंहासन पर विराजमान ये सर्वज्ञ, कोटि-कोटि देवताओं से सेवित ये जिन, और इनके सामने मै वादी बनकर आया हूं ? यह एक वादी न जीता गया होता तो क्या बिगड़ने वाला था ? यह तो मेरी मूर्खता है कि मैंने एक कील के लिए अपने चारों ओर व्याप्त कीर्ति रूपी प्रासाद

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

को तोड़ने की तैयारी की'। सोचें, इन्द्रभूति को अभिमान होते हुए भी सामने वाले की शक्ति-योग्यता का कैसा उचित भान है ? यही कहते हैं कि 'ये तो सकल दोष रहित अंतिम तीर्थंकर हैं। ओह ! ईश्वर के अवतार तुल्य आप को जीतने की इच्छा करने की मैंने कैसी मूर्खता की ?' अभी तो जिनशासन प्राप्त किया नहीं है, जैन तत्त्वों को यथास्थित समझा नहीं, जैन धर्म पर श्रद्धालु बना नहीं, फिर भी वस्तुस्थिति को ठीक समझ कर अपनी मूर्खता का आत्मनिरीक्षण करते हैं। क्यों ? वस्तु का विवेक है। फिर भी अब ऐसे प्रभु की शरण लेते नहीं, यह हृदय कैसा ? सोचते हैं—'क्या हो, कहाँ जाऊँ ? शिव मेरी कीर्ति की रक्षा करे !' यह है मिथ्यात्व का प्रभाव कि सामने जगद्गुरु ईशावतार हैं, ऐसा समझते हुए भी रक्षण की याचना शिव के पास की जा रही है।

पुनः शेखचिल्ली की तरंगों में चढ़ते हैं। कहावत है न—'हिम्मते मर्दा तो मददे खुदा' इसलिए सोचते हैं कि 'मेरे सम्पूर्ण शास्त्र-ज्ञान से यदि इन एक को जीत लूं तब तो मेरी कीर्ति तीनों लोकों में प्रसारित हो जाय। अहाहा ! फिर तो मेरा महत्त्व, मेरा स्थान, कैसा ? वर्णनातीत !' यह कैसी तरंग है ?

बात सही है, प्रभु के हाथों ये मोह और अज्ञानता पर ऐसी प्रबल विजय प्राप्त करने वाले हैं कि ये तीनों लोकों मे यशस्वी होने वाले हैं। पर यह सब प्रभु के हाथों से एक बार तो हार खा कर ही होना है। गुरु से हम हारे इसमें हमारी जीत ? अथवा गुरु को जीतने में हमारी जीत ? प्रभु के पास आ कर भी, व प्रभु से सुन कर भी यदि मन में मान लिया होता कि 'मैं कुछ भी हारा नहीं। यह तो इनके दुर्ग में इन्हीं के मंडल के बीच इन्होंने हमें मूढ (पराजित) बताया, इससे क्या ?' इस प्रकार लोचे डाले होते तो मोह पर सच्ची जीत नहीं होती। इसलिए इस कलिकाल में तो विशेषकर गुरुजनों के सम्मुख अपना बाह्य रूप दिखाना छोड़कर अपने दोषों को स्वीकार लेने में तथा दोष न हो तो भी 'क्षमा करो, प्रभु ! मैं भूला' इस प्रकार नम्र बनने में ही इस महा मूल्यवान् मानव जीवन की सफलता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इतने में सर्वज्ञ श्री वर्धमान स्वामी सागर-गंभीर और अमृत-तुल्य मधुर वाणी में कहते हैं, 'हे इन्द्रभूति गौतम ! आप सुखपूर्वक आये है ? प्रभु अनंत ज्ञानी होने से जानते हैं कि 'वचन रूपी प्रथम औषधि की यह पुड़िया इन्द्रभूति की आत्मा में क्या रंग लाएगी और इस पर दूसरी कैसी पुड़िया की आवश्यकता होगी ?' इन्द्रभूति सोचते हैं 'अहा ! मेरा नाम तक ये जानते हैं ? क्यों न जाने ? त्रिलोक में आबालवृद्ध मेरे विख्यात नाम को कौन नहीं जानता ? मेरे नाम से पुकारे, इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है, मेरे हृदय के संदेह को कह दें तो इन्हें सच्चे सर्वज्ञ मानूँ ।'

परमात्मा श्रमण भगवान श्री महावीर देव तो अनंतज्ञानी हैं । उनसे यह संदेह कहां छिपा है ? तत्क्षण प्रभु कहते हैं—'हे इन्द्रभूति गौतम ! जीव के अस्तित्व के विषय में क्या तुम्हारा संदेह है कि जगत में जीव जैसी वस्तु होगी या नहीं ? परन्तु तुम वेद की पंक्तियों का अर्थ ठीक ठीक क्यों नहीं समझते ?' ऐसा कह कर प्रभु "विज्ञानधन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय, तान्येवानु-विनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति" इन वेद पंक्तियों का उच्चारण करते हैं । अहा ! प्रभु के इस उच्चारण की क्या भव्य ध्वनि थी ? मानो वह महासागर के मंथन की ध्वनि थी, अथवा गंगा की महान् बाढ़ की ध्वनि थी या आदि ब्रह्मध्वनि थी । कैसा गंभीर घोषपूर्ण यह हृदयभेदी स्वर था ? इन्द्रभूति को तो मानों ऐसा ही लग रहा था 'अहा ! क्या मैं किसी अन्य जगत में तो नहीं चला आया हूँ ? अथवा यह क्या है ? कैसा यह समवसरण ! कैसे प्रभु के दास बने हुए ये देव ! कैसा जिनेन्द्र का अनुपम रूप ! कैसा यह अलौकिक, अदृश्यपूर्ण और अनुपम कंठ का नाद ! मात्र यह ध्वनि सुनते ही त्रिविध ताप शान्त होता लगता है; मानो दुःखों का अन्त आ रहा है ऐसा लग रहा है कि मानो जीवन भर ऐसा ही सुनते रहें । ऐसी दिव्यवाणी द्वारा किया जाने वाला तत्त्वों का प्रकाश तो फिर न जाने कितना अद्‌भुत होगा' । बात भी सही है त्रिभुवन गुरु श्री अरिहंत देव का अनंतज्ञान, अद्‌भुत रूप अनुपम वाणी, अद्वितीय सम्मान और अप्रतिभ तत्त्वोंका प्रकाश अवर्णनीय ही होता है अतः जीव स्वाभिमान क्या कर सकता है ? कवि कहते

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हैं कि जगत में आज तक बहुत ध्यान लगाया परन्तु सब व्यर्थ। अब तो एक मात्र श्री अरिहंत पद का ध्यान धरो—

"श्री अरिहंत पद ध्याईये, चोत्रीश अतिशयवंता रे,
पांत्रीस वाणी गुणे भर्या, बार गुणे गुणवंता रे...."

जिनेश्वर देव को प्राप्त कर के भी यदि भारी अनुमोदन और तीव्र तत्त्व-जिज्ञासा न हो तो सब व्यर्थ। इन्द्रभूति के पास तो यह है अतः प्रभु इन्हें समझाते हैं कि तुमने वेद वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझा है—'विज्ञानघन'—चेतन', 'एतेभ्यो भूतेभ्य एव'=इन पृथ्वी आदि पंचभूत में से ही, 'समुत्थाय'=प्रकट-उत्पन्न होकर 'तान्येवानु-विनश्यति--इन भूतों के बिखरने के साथ ही वह चेतना भी नष्ट हो जाती है। 'न प्रेत्यसंज्ञा अस्तीति=अन्यत्र जाना होता नहीं'। दूसरी ओर तुम्हें इन्हीं वेद में से 'स्वर्ग कामोऽग्नि होत्रं जुहुयात्=स्वर्ग चाहने वाले को अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए' ऐसा कथन मिला, जिससे तुम्हें संदेह हुआ कि 'यहां से चेतना का अन्यत्र जाना न हो तो अग्निहोत्र करके स्वर्ग जाना जैसी वस्तु क्या है? इस जीवन में तो कुछ है नहीं, अन्यत्र हो सकती है कि जहां जीव जाये। तो फिर क्या जीव जैसी कोई वस्तु होगी?'

समझाने की सुन्दर रीति:—विरोधी को भी तत्व समझाने की जगत् कृपालु की यह कैसी सुन्दर पद्धति! पहले तो आप विपक्षी के हृदय के भाव तथा उसकी शंकापूर्ण आंतरिक परिस्थिति का अनावरण कर देते हैं, अर्थात् स्पष्ट कर के बताते हैं। इसके लिए भी अत्यन्त वात्सल्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग करते हैं। शत्रु के गले में भी अपनी बात उतारने का यह अपूर्व मार्ग है। इससे विपक्षी स्नेही बन कर आकर्षित होता है तथा इससे उसका कदाग्रह मिट जाता है कि जिससे वह अब सही तर्कों पर सोचता है; अन्यथा जब तक कदाग्रही बना रहता है तब तक अच्छी से अच्छी युक्ति को भी नहीं गिनता।

श्री विशेषावश्यक-भाष्य नामक महान् ग्रंथ में पूज्यपाद श्री श्रुतमहोदधि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण महाराज ने विस्तार पूर्वक गणधर वाद का आलेखन किया है। इसमें ११ गणधरों के जीव कर्म आदि के संबंधित संदेहों का भगवान

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री महावीरदेव ने तर्क, युक्ति, प्रमाण से जो निवारण किया है उसका आलेखन है। 'जीव नहीं है' इसकी पुष्टि की दलीलें और 'जीव है' इसके प्रमाण की दलीलें संक्षिप्त में यहां दी जाती हैं।

'जीव नहीं है' इसकी सिद्धि

प्रमाण बिना 'जीव' असिद्ध :—भगवान अब जीव को अलग न मानने वालों की युक्ति बताते हैं;—पृथ्वी आदि तत्त्वों से जीव जैसा भिन्न तत्त्व (भिन्न पदार्थ) सिद्ध करने में कोई प्रमाण होना चाहिए जो मिलता नहीं; और प्रमाण के बिना कोई भी वस्तु मान्य हो नहीं सकती। बड़े बड़े वादी प्रमाण पर जूझते हैं। किसी के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण यदि गलत सिद्ध हो जाय तो उस प्रमाण पर आधारित प्रतिपादन और उस प्रमाण का विषय टिक नहीं सकता। प्रमाण अनेक हैं जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, संभव, आगम आदि। इनमें से किसी एक प्रमाण से भी भिन्न जीव सिद्ध होता हो तो 'जीव है'—ऐसा प्रामाणिक निर्णय लिया जा सकता है; परन्तु सिद्ध करने वाला प्रमाण ही तो मिलता नहीं। वह इस प्रकार :—

प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा सिद्ध नहीं होती :—क्योंकि प्रत्यक्ष करने के लिए पांच इन्द्रियाँ है, इनमें से एक भी आत्मा का अनुभव नहीं कर पाती। आत्मा घड़े की भाँति दृष्टिगम्य नहीं है, शब्द की भांति कान से श्रव्य नहीं है, तथा रस की भांति जीभ इसे चख भी नहीं सकती। इस प्रकार आत्मा देखी या जानी नहीं जा सकती।

प्रश्न—जीव प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता फिर इसे कैसे मानें? यद्यपि परमाणु स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, फिर भी इनके कार्य घड़े के रूप में दिखाई देते हैं. इसलिए इनका तो निषेध नहीं किया जा सकता, परन्तु आत्मा तो स्वतंत्र तो क्या, पर किसी कार्यरूप में भी दृष्टिगोचर नहीं होती, तब इसका अस्तित्व कैसे मान्य हो?

उत्तर—जगत में प्रत्यक्ष नहीं होते हुए भी किसी वस्तु की भांति आत्मा अनुमान से मानी जाय, जैसे—भौंपड़ी के अन्दर रही हुई अग्नि बाहर प्रत्यक्ष

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नहीं होने पर भी छप्पर से पार निकलते हुए धुएं को देखकर अनुमान से मानी जाती है, इस प्रकार शास्त्रादि प्रमाणों से आत्मा भी मान्य है।

ऐसा अगर आप अनुमान प्रमाण दें, किन्तु

अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का ज्ञान नहीं होता। अनुमान तीन प्रकार से होता है :—

(१) **कारण—कार्य अनुमानः**—जैसे चींटी के पैर, धूल में चकवी की क्रीड़ा आदि लक्षणयुक्त घनघोर काले बादल वर्षा के सूचक हैं। इन पर कृषक वर्षा रूपी कार्य का अनुमान करते हैं। इसी प्रकार सुलगते हुए चूल्हे पर उबलते हुए पानी में डाले हुए चावल को देखकर भात तैयार होने का अनुमान होता है। युद्ध भूमि पर आमने सामने दो शत्रुओं की सेनाएं देखकर युद्ध का अनुमान होता है, और पश्चिम की ओर सूर्य को अधिक ढला हुआ देखकर अस्त होने की तैयारी का अनुमान होता है।

(२) **कार्य—कारण अनुमानः**—जैसे धुंआ अग्नि से उत्पन्न होने वाला कार्य है। अग्नि इसका कारण है जिससे कार्य—धुंआ देखकर कारण—अग्नि का अनुमान होता है। इसी प्रकार पुत्र को देख कर कारणभूत पिता का अनुमान होता है।

(३) **सामन्यतो दृष्ट अनुमानः**—पहले दो अनुमान 'पूर्ववत्' व 'शेषवत्' हुए। अब 'सामन्यतो दृष्ट';—जहां दो वस्तुएं एक दूसरी की कार्य कारण नहीं होती परन्तु साथ साथ रही हुई होती हैं; एक दूसरी में व्याप्त होती हैं, वहां एक को देख कर दूसरी का अनुमान होता है जैसे रस रूप (वर्ण) के साथ ही रहता है तो घास में पकने के लिए डाली हुई केरी का अंधेरे में मधुर मधु जैसा रस चख कर अनुमान होता है कि केरी पक गई होगी। इसी प्रकार कुत्ते के भौंकने आदि के आवाज से गांव का अनुमान लगाया जाता है।

यह सब लिङ्ग पर लिङ्गी का, अथवा हेतु पर साध्य का अनुमान गिना जाता है। धुँए आदि को देखकर जो अनुमान लगाया जाता है उसे 'हेतु'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कहते हैं। अग्नि आदि का जो अनुमान लगाया जाता है उसे 'साध्य' कहते हैं। जहां जहाँ हेतु हो वहां वहां साध्य अवश्य हो तो वह सच्चा हेतु है। इसमें हेतु व्याप्य कहलाता है, साध्य व्यापक कहलाता है। हेतु में साध्य की व्याप्ति होती है; दोनों के बीच व्याप्ति संबंध कहलाता है। झोंपड़ी में अग्नि के अनुमान में 'हेतु' धुंए का 'साध्य' अग्नि के साथ व्याप्ति संबंध पहिले निश्चित होना चाहिए। यह व्याप्ति-संबंध रसोईघर में देखा हुआ है अतः अन्यत्र झोंपड़ी पर धुंआ देखकर अन्दर की अग्नि का अनुमान होता है। जब कि प्रस्तुत में आत्मा के साथ कहां किसी का संबंध पहिले प्रत्यक्ष देखा है कि जिस पर अनुमान लग सके ? आत्मा के संबंध में इन तीनों में से एक भी अनुमान नहीं मिलता, क्योंकि आत्मा का कोई कारण, कोई कार्य अथवा कोई साथी नहीं दीखता जिस पर से आत्मा का अनुमान लगाया जाए।

उपमान और अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं—उपमान में 'कोई बिना जानी हुई वस्तु अन्य जानी हुई वस्तु जैसी होती है' ऐसा जानने पर फिर कभी जब अनजानी वस्तु पर दृष्टि पड़ती है तो पहिचान ली जातीं है कि यह अमुक वस्तु है। आत्मा के संबंध में ऐसी किसी ज्ञात वस्तु की उपमा घटित नहीं होती अतः उपमान प्रमाण आत्म सिद्धि के लिए अनुपयुक्त है।

अर्थापत्ति में कोई दृष्ट-श्रुत (देखी-सुनी) वस्तु अमुक वस्तु के बिना घटित न हो सके ऐसी होती है तब इस दृष्ट-श्रुत वस्तु के आधार पर वह वस्तु सिद्ध होती है जैसे किसी हृष्ट पुष्ट व्यक्ति के विषय में कोई कहे कि यह दिन में बिल्कुल खाता ही नहीं तो इस पर सिद्ध होता है कि रात को यह अवश्य खाता होगा। आत्मा की इस प्रकार सिद्धि करने के लिए देखें कि कौनसी दृष्ट-श्रुत वस्तु इसके बिना घटित नहीं हो सकती तो पाते हैं कि कोई वस्तु ऐसी नहीं है।

संभव—ऐतिह्य प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं—

संभव प्रमाण उसे कहते हैं जो एक वस्तु में दूसरी वस्तु आ जाय उसकी सिद्धि करे। जैसे—किसी के पास लाख रुपये होने का पता चला तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इससे निश्चित् है कि उसके पास हजार रुपये तो हैं ही। वृद्ध ने युवावस्था देखी ही है ऐसा कहा जाता है क्योंकि इतनी लम्बी आयु में युवावस्था की आयु समा जाती है। परन्तु आत्मा किस में समा जाती हैं जिससे कह सकें कि यह वस्तु है अतः आत्मा तो है ही। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है।

ऐतिह्य प्रमाण:—ऐतिहासिक प्रमाण में दंतकथादि आती हैं जैसे किसी जीर्ण मकान में वर्षों से भूत का निवास है इस प्रकार परंपरा से लोग जानते चले आ रहे हैं। ऐतिह्य प्रमाण से वंश परंपरा तक यह बात चली आती है, परन्तु आत्मा के संबंध में ऐसी कोई कहावत प्रचलित नहीं है, क्योंकि कोई ऐसा अमर शरीर दिखाई नहीं देता जिसमें आत्मा का निवास होने की कहावत वंश परंपरा से चलती हुई आज मिलती हो।

प्रश्न—आत्मा को मानने वाले अमुक वर्ग में तो परम्परागत ऐसी कहावत चली आ रही हैं कि शरीर में भिन्न आत्मा होती है—ऐसा क्यों ?

उत्तर—यह प्रचार सर्वलोक में सिद्ध न होने से प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। साथ ही अमुक वर्ग में ही प्रचलित कितनी ही दन्तकथाएँ अप्रामाणिक अर्थात् मिथ्या भी होती हैं। अतः ऐतिह्य प्रमाण से आत्मा की सिद्धि नहीं होती।

तो अब रहा—

आगम प्रमाण—शब्द प्रमाण :—उपरोक्त अनेक प्रमाणों में से एक भी प्रमाण जिसमें घटित न होता हो ऐसे भी पदार्थ की सिद्धि में आगम अर्थात् आप्त (विश्वसनीय) पुरुष के वचन रूपी शब्द प्रमाण घटित हो सकते हैं। जैसे पिता के वचनमात्र से पुत्र ने जाना कि उसके दादा अमुक हैं। इसी प्रकार चन्द्र-ग्रहण, चन्द्र-उदय, सूर्यग्रहण आदि ज्योतिष शास्त्र से सिद्ध होते हैं। इनमें पहिले से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण घटित नहीं हो सकते। अब आत्मा के संबंध में चाहिए तो इसकी पुष्टि में शास्त्र तो मिलते हैं, परन्तु शास्त्र आत्मा के संबंध में अनेकानेक परस्पर विरोधी बातें करते हैं; जैसे :—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कोई कहता हैं कि 'आत्मा एक ही है' तो कोई कहता है 'आत्मा अनंत हैं' फिर कोई आत्मा को क्षणिक ही मानता है तो कोई नित्य ही मानता हैं। ऐसी स्थिति में कौन सा शास्त्र मानें और कैसी आत्मा सिद्ध हो ?

यहां तक 'आत्मा नहीं' यह सिद्ध करने का प्रयत्न हुआ अब आत्म तत्त्व सिद्ध करने की विचारणा की जाती है।

'आत्मा है' इसके प्रमाण :

आत्मसिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण :—(१) सर्वज्ञ आत्मा को प्रत्यक्ष देखते हैं। जिस प्रकार किसी मनुष्य के आंतरिक सदेह विकल्प इन्हें प्रत्यक्ष होते हैं और अवसर पर व्यक्त किये जाते हैं और वे मान्य होते हैं, इसी प्रकार इन्हें प्रत्यक्ष होने वाली **आत्मा** मान्य होनी चाहिये।

(२) अपने **प्रत्यक्ष प्रमाण** से भी आत्मा इस प्रकार सिद्ध होती है कि हमें संदेह, निर्णय, तर्क, सुख, दुःख आदि जो प्रत्यक्ष सिद्ध अनुभूत होते हैं यह आत्मा का ही प्रत्यक्ष अनुभव है क्योंकि आत्मा ही तन्मय है, जब कि देह तन्मय नहीं है।

(३) 'मैं करता हूँ' मैंने किया, मैं करूंगा, मैं बोलती हूं, मैं बोला, मैं बोलूंगा आदि **त्रैकालिक अनुभव** में 'मैं' का अनुभव आत्मा का ही प्रत्यक्ष अनुभव है, क्यों कि तीनों ही काल में आत्मा तदवस्थ हैं जब कि शरीर परिवर्तित होता है। 'खाऊं तो मैं बिगडूं', नहीं, किन्तु 'खाऊं तो मेरा शरीर बिगड़े,' —ऐसा अनुभव होता है; इससे 'मैं' कर के आत्मा ही सिद्ध होती है।

(४) स्वप्न में अनुभव कौन करता है ? आत्मा ही ? गहन अधकार में जहां अपना शरीर भी दिखाई नहीं देता, वहां 'मैं हूं' ऐसा अबाधित प्रत्यक्ष अनुभव आत्मा का ही है, सरीर का नहीं।

(५) शरीर का कभी अकस्मात् रंग पलट जाने पर या यकायक निर्बलता बढ़ जाने पर संदेह होता है 'क्या यह मेरा शरीर' परन्तु कभी भी 'मैं' के संबंध

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

में अंधकार में भी संदेह नहीं होता कि 'मैं हूं अथवा नहीं'। 'मैं' का तो सदा निर्णय ही रहता है। यह 'मैं' का निर्णय आत्मा का ही निर्णय है।

(६) गुण के प्रत्यक्ष से गुणी भी प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे—पर्दे के छेद में से घड़े का रूप दीखने पर घड़ा दिखाई देता है ऐसा व्यवहार है। इसी प्रकार स्मरण, जिज्ञासा, बोध, सुख आदि आत्मा के गुणों के प्रत्यक्ष से आत्मा ही मानी जाती है क्योंकि गुण गुणीस्वरूप है।

प्रश्न—स्मरणादि गुण तो शरीर के ही कहे जा सकते हैं न? आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है।

उत्तर—शरीर मूर्त है, चक्षु का विषय है और जड़ है। इसके गुण गौरता, श्यामता, कृषता, स्थूलता इत्यादि होते हैं; परन्तु स्मरणादि नहीं, जो कि अमूर्त हैं—चैतन्यरूप हैं। शक्कर मिश्रित पानी में जो मीठापन लगता है वह पानी का नहीं परन्तु शक्कर का है। वैसे इसी शरीर में अनुभूत होने वाले ज्ञानसुखादि गुण शरीर के नहीं परन्तु आत्मा के होते हैं। गुण-गुणी सम्बन्ध अनुरूप का ही हो सकता है, जैसे—राख का गुण चिकनाहट नहीं परन्तु रुक्षता है। इस प्रकार स्मरणादि गुण आत्मा के हैं।

इस प्रकार आत्मा आंशिक रूप से प्रत्यक्ष है। शेष आत्मा का सर्वांगीण प्रत्यक्ष तो सर्वज्ञ ही कर सकते हैं और सर्वज्ञ बनने के लिए तपस्यादि विधियों का आचरण करना चाहिये। दूध में निहित घी भी, दूध का दही, मक्खन, तावनादि विधियां करने से ही प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि (१) सर्वज्ञ के केवलज्ञान-प्रत्यक्ष से, (२) संदेहादि स्फुरण के स्वप्रत्यक्ष से, (२) त्रैकालिक प्रत्यक्ष में 'मैं' के प्रत्यक्ष भास से, (४) स्वप्न में 'मैं हूं' के अनुभव से, (५) 'मैं' के संदेह के अभाव से, तथा (६) गुण के प्रत्यक्ष से आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध होती है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्मसिद्धि के अनुमान प्रमाण

प्रश्न—संशय, ऊहापोह, निर्णय आदि जो संवेदन हृदय में स्फुरित होते हैं यह आत्मा के संबंध में प्रत्यक्ष प्रमाण है तब फिर अनुमान से प्रमाणित करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जो शून्यवादी जैसा कहते हैं कि ये सब संशय, निर्णय आदि स्फुरित होने वाले संवेदन मिथ्या है, असत् है, तो इस हिसाब से तो आत्मा भी असत् सिद्ध होती है। अतः अनुमान से आत्मा की सिद्धि करना आवश्यक है। ये अनुमान इस प्रकार हैं :—

(१) किसी भी शरीर में भिन्न आत्मा है यह सिद्ध करने के लिए अपनी तरह दूसरों की प्रवृत्ति निवृत्ति पर से ऐसा अनुमान होता हैं कि इनके शरीर को प्रवृत्त निवृत्त बनाने वाली आत्मा इसके अन्दर हैं। जिस प्रकार घोड़े से गाड़ी चलती है, उसी प्रकार शरीर भी हलन-चलन-भाषणादि में प्रवृत्ति और उनसे निवृत्ति आत्मा से ही करता है और मृत्यु होने पर शरीर में से आत्मा निकल जाने पर अश्व विहीन गाड़ी जैसे शरीर में स्वतः जरा भी इष्ट प्रवृत्ति द्वारा संचा या अनिष्ट निवृत्ति नहीं होती। यह है अनुमान प्रयोग—शरीर ऐसे किसी के लित है जो कि शरीर में विद्यमान होने तक ही शरीर प्रवृत्त-निवृत्त होता रहताहै। जैसे,—अश्व-संचालित रथ।

प्रश्न—जैसे सर्प स्वयं ही संकुचित हो जाता है वैसे ही शरीर स्वयं ही प्रवृत्ति-निवृत्ति करने में समर्थ नहीं है क्या ? इसमें आत्मा की आवश्यकता है।

उत्तर—सर्प भी जीवित अवस्था में ही संकुचित हो सकता है, न कि मृतावस्था में। इससे पता चलता है कि वहां भी अंदर बैठी हुई आत्मा ही काम कर रही है। मन चाहे तब दृष्टि चलाना, दृष्टि को रोकना, छींकना, छींक रोकना, हाथ पांव हिलाना-रोकना आदि की शक्ति जड़ शरीर की कैसे कही जा सकती है ? प्रवर्तक-निवर्तक तो आत्मा ही है।

यहां पहिले बताया गया है कि अनुमान करना हो तो साध्य हेतु का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

व्याप्ति-संबंध कभी पूर्व में गृहीत-ज्ञात किया हुआ होना चाहिए—परन्तु यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि व्याप्ति-संबंध दो प्रकार से होता है,—(१) अन्वय व्याप्ति, व (२) व्यतिरेक व्याप्ति :—

अन्वय व्याप्ति—यह वहां गिनी जाती है जहां ऐसा संबंध मिले, 'जहां जहां हेतु वहां वहां साध्य' जैसे धुँआ और अग्नि।

व्यतिरेक व्याप्ति—वहां गिनी जाती है जहां अन्वय से विपरीत संबंध हो,—'जहां जहां साध्य नहीं, वहां वहां हेतु नहीं।' जैसे—सरोवर में अग्नि नहीं तो धुँआ भी नहीं। इतर दर्शनों में जिनेन्द्र देव को इष्टदेव मानने का नहीं, तो जैनत्व नहीं।

अब देखो कि ऐसे भी अनुमान होते हैं जहां अन्वय-व्याप्ति नहीं किन्तु मात्र व्यतिरेक-व्याप्ति संबंध ही मिलता है तो उससे अनुमान नहीं होता है; जैसे,—मनुष्य की विलक्षण चेष्टा से उसे भूत लगने का अनुमान होता है; वहां वहां अन्वय व्याप्ति संबंध कहां मिलता है, कि 'जहां जहां विलक्षण चेष्टा, वहां वहां भूत का लगना ?' ऐसा पूर्व में प्रत्यक्ष कहीं नहीं देखा है; क्योंकि भूत दिखाई देने वाली वस्तु ही नहीं है। फिर भी 'जहां भूत का लगना न हो वहां विलक्षण चेष्टा नहीं,'—ऐसा व्यतिरेक-व्याप्ति संबंध मिलता है; तो इस पर भूत-प्रवेश का अनुमान हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार मृत शरीर में नहीं, पर जीवित शरीर में चेष्टा प्रवृत्ति-निवृत्ति दिखाई देती है इस पर उपरोक्त उदाहरण में भूत-संबंध की भांति इसमें आत्म-संबंध का अनुमान होता हैं। कह सकते हैं कि जहां जहां आत्म-संबंध नहीं वहां वहां स्वतन्त्र चेष्टा नहीं।'

(२) यंत्र तो नियत-नियमित प्रवृत्ति वाला होता है. परन्तु शरीर तो यंत्र की अपेक्षा विचित्र विचित्र प्रवृत्ति वाला है अतः इसका कारण है किसी का अंतःप्रवेश; जैसे—भूत-प्रवेश वाला शरीर।

(२) काया एक सुन्दर दो स्तम्भमय महल जैसा है, तो इसका बनाने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तथा संचालन करने वाला कोई चाहिये; जैसे—वन में दिखाई देता कोई मकान अथवा कुटिया। काया में मशीनरी है। मस्तक में संदेश कार्यालय, संदेशवाहक ज्ञानतंतु अर्थात् तार, कार्यालय के नीचे आत्माराम को सृष्टि का मजा चखाने के लिए आँख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शेन्द्रिय रूपी पांच झरोखे हैं। वहां इन प्रत्येक के माध्यम से ग्राह्य वस्तुएं नाटक, संगीत, बाग-बगीचे, मिठाइयां तथा सुकोमल वस्तुएं आदि जब उपस्थित हो जाती हैं तब इनका अनुभव कर राजा आत्माराम आनंदविभोर होता है। इसी प्रकार शरीर-महल में गले में वाद्य यन्त्र, हृदय में जीवन शक्तियां, उसके नीचे भंडार और रसोईघर तथा नीचे पेशाबघर और पाखाना है। ऐसा विचित्र कारखाना किसने बनाया? और सबका संचालक कौन? तो उत्तर में आत्मा ही कहना पड़ेगा। ईश्वर को अगर कर्ता कहें तो वह अपूर्ण इञ्जिनियर सिद्ध होगा! क्योंकि खाने पीने की लिप्सा हो, और मल मूत्र का बोझ उठा कर फिरना पड़े, ऐसा शरीर क्यों बनाया? चलता हुआ व्यक्ति आगे देख सके पर पीछे न देख सके, ऐसी अधूरी आंख क्यों रक्खी? किसी का रूपवान्, और किसी का बेडौल, किसी का स्वस्थ और किसी का अस्वस्थ, किसी को देखने में समर्थ और किसी का अंधा ऐसा शरीर क्यों बनाया? यदि कहें कि 'अपने अपने कर्मानुसार', तो प्रश्न उठता है कि यह 'अपने' अर्थात् किस के? अगर जीव का कहते हो तो जीव सिद्ध हो गया!

(४) शरीर, इन्द्रियां और गात्र भोग्य हैं, तो कोई भोक्ता भी चाहिए। सुन्दर वस्त्र की भांति सुन्दर देह पर प्रसन्न होने वाला कौन? दो हाथ और दो पांव नोकर जैसे हैं। इनके पास काम कौन लेता हैं? उत्तर मिलता है राजा आत्माराम। महल में राजा होता है वहीं तक सभी स्थान ताजे हैं, राजा चले और स्वामी के बिना घर सूना। जीव रूपी माली के बिना देह बगीचा खड़ा खड़ा सूख कर एक दिन उजाड़ हो जाता है। आत्मा के बिना कौन सम्हाले और कौन भोगे?

(५) इन्द्रियां करण हैं अतः इनका अधिष्ठाता यानी इनसे काम लेने

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वाला कौन ? तो कहते हैं आत्मा। चिमटा-संडासी स्वयं काम नहीं करती, उससे काम लेने वाला व्यक्ति होता है।

(६) इन्द्रियां और गात्रादि किसी के आदेश के अनुसार काम करते हैं, तो स्वतन्त्र आदेशक कौन ? उत्तर स्पष्ट है—आत्मा। यही स्वेच्छा से आंख की पुतली को नचाती है, हाथ पांव चलाती है, फिर इच्छानुसार स्थिर भी रहती है आदि। शरीर को आदेशक नहीं मान सकते, क्योंकि शरीर स्वयं तो इन सब का संयुक्त रूप है, कोई एक स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं। आदेशक के रूप में हम मन को भी नहीं कह सकते; क्यों कि वह भी परतंत्र है। उसे कड़वी औषधि रुचिकर नहीं लगती फिर भी पीनी पड़ती है। कौन पिलाता है ? बीमारी में भी मिठाई—कुपथ्य खाने की ओर मन लालायित होता है, परन्तु उसे रोकता कौन है ? बस यही आत्मा। आत्मा स्वयं स्वामी—प्रोप्राइटर है, मन मैनेजर है। स्वामी की प्रगाढ़ रुचि के अनुसार मन तरंग करता है इन्द्रियों को प्रेरित करता है; हिंसा-अहिंसादि में प्रवृत्त करता है। आत्मा के इस महा मूल्यवान् स्वातंत्र्य के शुद्ध मोड़ और इन्द्रिय-मन के शुभ प्रवर्तन में जो सदुपयोग करता है वही भवसागर से पार उतरता है।

(७) शरीर तथा गात्रादि प्रवृत्ति का **नियामक**–निरोधक कौन ? जैसे आती हुई छींक को रोकना, देखने में लीन आंख को बन्द करना, चलते चलते बीच में पांवों का रुकना, कहीं लघुशंका से निवृत्त होते विशेष भय में अटका देना, इसी प्रकार क्रोध से जो आक्रोश वचन बोले जाते उनसे बचाना, आदि सब का नियन्त्रण करने वाला कौन ? तो मिलता हैं आत्मा ही।

(८) इन्द्रियों के बीच झगड़ा पड़ जाए तब न्यायाधीश कौन ? जैसे आंख देखती है कि चांदी है और स्पर्श कहता है कि कलई। दोनों को सोच कर निश्चित निर्णय देने वाली आत्मा है; हाथ या बुद्धि नहीं; क्यों कि ये तो साधन हैं। आंख आम का हरा रंग देख कर खट्टेपन की कल्पना करती है, परन्तु आत्मा जीभ के पास परीक्षा कराती है, और मीठा स्वाद लगते ही आंख की कल्पना को असत्य सिद्ध करती है। बिना आत्मा के बिल्कुल भिन्न

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भिन्न और अपने २ स्वतन्त्र विषय वाली आंख और जीभ दोनों परस्पर किस प्रकार समझौता कर सके ? दोनों में से कौन माने कि 'आम को मैंने रंग से खट्टा माना परन्तु रस से मीठी अनुभूत किया ?' यहां 'मैं' के रूप में आत्मा को माने ही छुटकारा मिल सकता है।

(९) शरीर यह घर और पैसे की भांति ममत्व करने की वस्तु है, तो शरीर का ममत्व करने वाला कौन है ? घर, पैसे, तिजोरी, फर्नीचर आदि वस्तुएं स्वयं ही अपने पर ममत्व नहीं करते। ममत्व करने वाला कोई भानहीन पागल है। इस प्रकार 'मेरा शरीर थका हुआ है, अभी तुम्हारा अ.दिष्ट चक्कर खा नहीं सकता' ऐसा देह पर ममत्व रखने वाली आत्मा है। अब ममत्व अभ्यास से आता है तो नवजात शिशु को स्वशरीर का ममत्व कैसे हुआ ? यहां तो इसका अभी जन्म होने से कोई अभ्यास नहीं। तब फिर मानना ही पड़ता है कि पूर्व जन्म के अभ्यास से यहां जन्म से ही ममत्व होता है। इस प्रकार दो जन्मों के बीच संलग्न एक स्वतन्त्र आत्मा सिद्ध होती है।

(१०) मानसिक सुख-दुःख का अनुभव करने वाला कौन ? पक्वान्न जीमने बैठे और वहां हजारों रुपयों की हानि का तार प्राप्त हुआ; तब फौरन दुःखी कौन हुआ ? बेचैनी का अनुभव किसने किया ? शरीर में तो मीठे पक्वान्न की मस्ती कायम है, और शरीर पर कोई आघात हुआ नहीं। मानना होगा आत्मा बेचैन हुई। इसी तरह सड़ी हुई पीड़ाकारी अंगुली कटवाई; वहां शरीर सुखी हुआ ऐसा लगता हैं; क्यों कि आगे सड़न और पीड़ा होने से बचे। परन्तु जीवन भर 'हाय ! मेरी अंगुली गई' इस प्रकार दुःखी कौन होता है तो उत्तर यही करना होगा कि आत्मा।

(११) माता पिता से बच्चे का शरीर बना; फिर भी जहां बच्चे में उनकी अपेक्षा विलक्षण गुण और स्वभाव दिखाई पड़ते है, वहां ऐसा क्यों ? स्वभाव से माता क्रोधिनी और पुत्र शान्त ! ऐसा क्यों ? तो मानना पड़ता है कि दोनों के शरीर में पूर्वभव के संस्कार लेकर आई हुई दो स्वतन्त्र आत्माओं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ने ये शरीर धारण किये हैं, जिससे दोनों के खाते (हिसाब-किताब) अलग अलग चलते हैं।

(१२) कुम्हार जानता है कि कोमल मिट्टी से घड़ा अच्छा बनता है, तभी स्व-इष्ट घड़े के लिए वह मिट्टी में प्रवृत्ति करता हैं। यह सूचित करता है कि इष्टानिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए इष्टानिष्ट का साधनस्वरूप ज्ञान तो होना ही चाहिये। नवजात शिशु को इष्टतृप्ति के लिए स्तनपान में प्रवृत्त बनाने के लिए आवश्यक 'यह स्तनपान इष्ट साधन है' ऐसा ज्ञान कहां से हुआ? कहेंगे 'माता करवाती हैं', पर नहीं, वह तो बालक के मुँह में मात्र स्तनमुख रखती है, बस इतना ही; पर चूसने की क्रिया किसने सिखाई? मुख स्याही-सोख अथवा लोहचुम्बक जैसा नहीं है जो स्वभावतः चूसे। यदि ऐसा हो तो बालक तृप्त होने के पश्चात् उसे स्वतः कैसे छोड़ देता है? इससे आप को कहना ही पड़ेगा कि स्वभावतः नहीं किन्तु ज्ञान व इच्छा होने पर स्तनपान में प्रवृत्त होता है। यह स्तनपान तृप्ति का साधन होने का ज्ञान पूर्व जन्म के संस्कार से होता है। इस संस्कार के लिए अनुभवकर्ता के रूप में इसकी आत्मा को ही मानना चाहिये। अन्यथा संस्कार का आधार कौन? शरीर तो जड़ है, व नया जन्मा हुआ हैं। इसे पूर्व संस्कार से क्या लेना देना? और इसे इष्टानिष्ट का भी भान क्या? शरीर को यदि भान हो तो पहिले खीर खाए और फिर कढ़ी पीए और इस प्रकार दोनों को पेट में इकठ्ठे करे क्या? पेट में अलग अलग भाग हैं क्या? नहीं, परन्तु वहां आत्मा का बस चलता नहीं, अतः उसे यह सब सहन करना पड़ता है, और मुँह में उसका चलता है अतः दों डाढों में भिन्न भिन्न वस्तुएं चबा सकता है। यह जड़ देह की नहीं पर चेतन आत्मा की कार्यवाही है।

(१३) इसी प्रकार एक ही माता-पिता के दो पुत्रों में—युगल में भिन्न भिन्न स्वभाव, आदत, सोक, रुचि, रागादि पाये जाते हैं; पर ऐसा क्यों, जब कि जनक-जननी वे ही हैं? इसी तरह एक थोड़ी शिक्षा से सीखता है, थोड़े उपदेश से समझ जाता है, और दूसरा नहीं, ऐसा क्यों? एक देवदर्शनादि में असीम

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आह्लाद का अनुभव करता है जब कि दूसरे को उसमें मन्द रुचि होती है ऐसा क्यों ? वहां का वातावरण तो एकसा है फिर यह भेद क्यों ? स्पष्ट है कि पूर्व जन्म के तदनुकूल विचित्र संस्कार और उनकी न्यूनाधिकता के कारण ऐसा होता है।

(१४) जीवन में दिखाई देने वाले मन-वचन-काया के योग, पुरुषार्थ, इच्छा, प्राण, ज्ञान-दर्शन का उपयोग, क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, कृष्ण लेश्यादि लेश्याएं, आहार-विषय-परिग्रह-भय की संज्ञाएं, राग-द्वेष-हर्ष, उद्वेग, शोक, व्याकुलतादि अशुभ भाव, क्षमा, मृदुतादि और अहिंसा, सत्य, संयमादि शुभ भाव,—ये सब किस के धर्म हैं ? जड़ शरीर के नहीं, क्यों कि शरीर एकसी स्थिति में रहने पर भी उनमें परिवर्तन होते रहते हैं, घड़ी भर प्रत्यक्ष, तो घड़ी भर अनुमान, अभी राग, तो थोड़ी देर में द्वेष, अभी अभी व्यापार का लोभ, परन्तु जरा सी उथलपुथल सुनते ही शांति,—यह सब परिवर्तन कौन लाता है ? और फिर मृत देह में इनमें से एक भी नहीं ! इससे साफ पता चलता है कि ये सब चेतन आत्मा के धर्म हैं, ये आत्मा के कार्य हैं।

(१५) ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुणों के आधार स्वरूप उनके अनुरूप (मिलते जुलते) ही द्रव्य चाहिए; संभव हैं कि द्रव्य स्पष्ट न भी दीखता हो। जैसे भीगी राख में पानी स्पष्ट नहीं दिखाई देता, परन्तु उसमें भीगापन निश्चित पानी का ही हैं, क्यों कि राख उसका अनुरूप द्रव्य नहीं है। इसी प्रकार शरीर में आत्मा प्रत्यक्ष नहीं, फिर भी ज्ञान सुखादि गुणों के अनुरूप द्रव्य आत्मा ही हैं, जड़ शरीर के अनुरूप गुण तो रूप, रस, स्थूलता, भारीपन आदि हैं।

(१६) जगत में सत् (सिद्ध) वस्तु का ही संदेह होता है, आकाश कुसुमवत् असत् वस्तु का नहीं। 'टोकरी में आकाशकुसुम है या नहीं ?' ऐसी शंका नहीं होती। शरीर में आत्मा है कि नहीं, ऐसा संदेह होता है। वही आत्मा जैसी सत् वस्तु सिद्ध करता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(१७) कहीं कहीं भ्रम यानी विपरीतज्ञान भी किसी सत् वस्तु का ही होता है। जगत में चांदी जैसी वस्तु है तो दूर कलई के पतरे का टुकड़ा देख कर भ्रम होता है कि यह चाँदी ही है। इसी प्रकार आत्मा जैसी वस्तु है इसी लिए नास्तिक को शरीर पर भ्रम होता है कि यह आत्मा ही है।

(१८) प्रतिपक्ष भी किसी सत् सिद्ध वस्तु का ही होता है। आर्य है तभी म्लेच्छ को अनार्य कहते हैं। इसी प्रकार कहीं दया, सत्य, नीति जैसी वस्तु है तभी निर्दयता–असत्य–अनीति होने की बातें होती है। इसी तरह लकड़ी, मुर्दा आदि का अजीव के रूप में तभी व्यवहार हो सकता है यदि जीव जैसी कोई वस्तु हो।

(१९) निषेध भी किसी सत् वस्तु का ही होता है। यद्यपि यह सत् अन्यत्र हो परन्तु जहां निषेध हो वहां नहीं, जैसे—हरिलाल कहीं जीवित हो तभी कहा जाता है कि हरिलाल घर में नहीं है। कहीं डित्थ जैसी कोई सत् वस्तु ही नहीं, तो इस पर 'यहां डित्थ नही' ऐसा नहीं कहा जाता। इसी प्रकार 'देह में जीव नही,' 'देह जीव नहीं' ऐसा, अगर जगत में जीव जैसी वस्तु हो, तभी कह सकते हैं। सारांश यह है कि जिसके सदेह-भ्रम-प्रतिपक्ष-निषेध हो, वह सत् सिद्ध वस्तु होती है।

प्रश्न—ऐसे तो जैन कहते हैं कि 'जगत्कर्ता ईश्वर नहीं' तो क्या इस निषेध से जगत्कर्ता ईश्वर सिद्ध नहीं होता ?

उत्तर—नहीं, यहां निषेध किसका है यह समझने योग्य है। निषेध संयोग, समवाय, सामान्य और विशेष इन चार का होता है; जैसे—(१) घर में देवदत्त नहीं है'—यह देवदत्त के संयोग का निषेध है। (२) 'गर्दभ-शृंग नहीं'—इसमें गर्दभ में शृंग के समवाय का निषेध है, परन्तु पूरे गर्दभ-शृंग का नहीं। (३) 'दूसरा चन्द्र नहीं', इसमें एक चन्द्र के समान अन्य चन्द्र का निषेध है। विद्यमान चन्द्र में अन्य की समानता अर्थात् सामान्य नहीं। (४) 'घड़े

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जितने मोती नहीं'—इसमें प्रमाणविशेष का निषेध है अर्थात् पूरे घटप्रमाण मोती का नही, किन्तु सिद्ध मोती में मात्र घट-प्रमाणत्व का निषेध है। ठीक इसी प्रकार यहां पूरे जगत्कर्ता ईश्वर का नहीं किन्तु सिद्ध वीतराग ईश्वर में जगत्कर्तृत्व का निषेध, जो कर्तृत्व कर्म आदि कारणों में प्रसिद्ध है।

प्रश्न—खैर, फिर भी 'ईश्वर नहीं' इस निषेध से तो ईश्वर सिद्ध होता है न ?

उत्तर—भले हो, ईश्वर के नाम से श्रीमन्त, राजादिऐश्वर्य वाले सिद्ध ही हैं और परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा भी सिद्ध है।

(२०) जो व्युत्पत्तिमान शुद्ध पद है उसका वाच्य होता ही है; जैसे अश्व, 'आशु' शीघ्र जाए वह अश्व। वैसे यह जीव पद है तो इसका वाच्य जीव सिद्ध होता है 'जीता है' यही जीव। **'अतति इति'** विभिन्न पदार्थों में जाता है, यह आत्मा।

(२१) जिसके स्वतन्त्र पर्याय होते हैं उसका वाच्य स्वतन्त्र होता है, जैसे शरीर—देह—काया—कलेवर आदि शरीर के पर्यायों (other words) का वाच्य शरीर स्वतन्त्र है, इसी तरह जीव–चेतन–आत्मा–ज्ञानवान् आदि जीव के स्वतन्त्र पर्याय होने से स्वतन्त्र जीवद्रव्य सिद्ध होता है। काल्पनिक शब्दों पर यह बात घटित नहीं होती, जैसे—पटेलभाई के 'ट र र र' शब्द पर कोई अनुरूप पर्याय नहीं मिलती है।

(२२) **अंतिम प्रिय**—जगत में ऐसा पाया जाता है कि कोई अवसर आने पर अधिक प्रिय के खातिर कम प्रिय वस्तु का त्याग किया जाता है, जैसे व्यापार के खातिर इतने ऐशआराम का परित्याग किया जाता है, क्यों कि व्यापार अधिक प्रिय है। परन्तु पैसे के लिए हानिप्रद व्यापार बंद किया जाता है क्यों कि उसकी अपेक्षा पैसा अधिक प्रिय होता है। किन्तु ऐसे प्रिय भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पैसे रोगी के पुत्र के लिए खर्चे जाते हैं, क्यों कि पैसों की अपेक्षा पुत्र अधिक प्रिय है। परन्तु पुत्र की अपेक्षा पत्नी अधिक प्रिय होने से यदि उसे पुत्र अथवा पुत्र वधु की ओर से क्लेश हो तो पुत्र को तुरन्त अलग किया जाता है। पर सोचो यदि मकान में भयंकर अग्नि लग जाए, पति पहली मंजिल पर हो, पत्नी चौथी मंजिल पर हो और पति जरा भी रुके तो जलकर भस्म होने का भय हो, तो क्या पति पत्नी को लेने के लिए ऊपर जाएगा ? नहीं, बाहर कूद पड़ेगा, क्यों कि पत्नी अति प्रिय तो हैं परन्तु उसकी अपेक्षा अपना शरीर अधिक प्रिय है। इससे भी आगे बढ़ते हैं। बहू सास की यातनाओं से उकता कर वह अपने शरीर को भी जला कर भस्म कर देती है, तब वह अपना शरीर भी जाने देना किसके लिये ? शरीर से भी प्रियतर कौन है ? उत्तर मिलता है—आत्मा। 'अपने न यह देखना न दुःखी होना; चलो मरें (अर्थात् शरीर त्याग दें)' ऐसा जो बहू सोचती है इसमें 'अपने' अर्थात् कौन ? आत्मा ही न, जो नित्य प्रति के क्लेश से बचने के लिए शरीर को जाने दे ?

(२३) दूसरे का स्नेह भाव—आदर, सद्भाव प्रिय लगता है, झगड़े टंटे, क्लेश, ऊंचा मन आदि प्रिय नहीं लगते। किसे ? आत्मा को। शरीर का तो कोई लाभालाभ होता नहीं। किसी का शरीर यानी मुंह हंसता हुआ देखते हैं फिर भी कहते हैं, 'यह दंभी है, भीतर से अप्रसन्न है' यह कैसे ? शरीर में 'भीतर से' अर्थात् क्या ? 'आत्मा के' तभी कहा जाय कि वस्तुतः यह अप्रसन्न है, मुंह हंसता हुआ बताता है इतना ही।

(२४) वर्तमान काल में किसी जीव को पूर्व जन्म का स्मरण हुआ मालूम पड़ता है। वह जीव कहता है कि पूर्व भव में मैं उस स्थान पर था, मेरी यह दुकान और मेरे ये पुत्रादि थे। उनमें से अभी भी ये मौजूद हैं। इसमें मैंने पहिले ऐसा ऐसा व्यवहार किया'—यह सब मिलता भी आता है तो यह 'मैं' 'मेरे' 'मैंने' आदि कौन ? आत्मा ही कहना पड़ेगा कि जो यहां पूर्व भव से आया उसका स्मरण करता है। यहां का शरीर पूर्व भव का नहीं। उपसंहार :

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आत्म साधक अनुमान का संक्षिप्त वर्गीकरण

१. प्रवृत्ति-निवृत्ति	१३. युगल-पुत्र की विचित्र रुचि आदि
२. भूत-प्रवेश	१४. योग-उपयोग लेश्या संज्ञादि भाव
४. काया-महल का कर्ता	१५. ज्ञानादि गुणाधार
४. देह संचालक-भोक्ता	१६. सदेह
५. इन्द्रिय-करण प्रयोक्ता	१७. भ्रम
६. गात्र-आदेशक	१८. प्रतिपक्ष
७. गात्र प्रवृत्ति-नियंत्रक	१९. निषेध
८. इन्द्रिय-विवाद पंच	२०. शुद्ध पद
९. काय-ममत्व	२१. पर्याय
१०. मानसिक सुख दुःख वेत्ता	२२. अंतिम प्रिय
११. माता पिता से विलक्षण गुण	२३. प्रिय-अप्रिय
१२. इष्टानिष्ट हेतु-ज्ञान	२४. जाति स्मरण

आत्मा अर्थात् क्या ? इतना भूलें नहीं कि आत्मा की सिद्धि जानने के पश्चात् इसे जगत की अपेक्षा अधिक प्रिय करना है। रोम रोम में बैठ जाना चाहिए कि 'मैं' अर्थात् सनातन आत्मा; 'मैं' अर्थात् पूर्वकृत कर्माधीन आत्मा; अशुभ मार्ग में मन वचन काया की दौड़धाम कर कर मैं अपने ही सिर नए नए कर्मों का भार लादने वाला आत्मा; मेरे ही द्वारा घटित, पालित एवं पोषित शरीर के कारण व्याधि से पीड़ित मैं आत्मा; मेरे ही शरीर से असामयिक-अनिश्चित समय पर बहिष्कार पाने वाला मैं आत्मा, संसार की विविध योनियों में भटकता मैं आत्मा ..... ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'मैं अर्थात्, शरीर नहीं,' परन्तु अनादि अनंत काल से कर्मों से दलित आत्मा" इत्यादि याद रख कर निराश होने की आवश्यकता नहीं। यह याद तो सिर्फ ईसीलिये रखनी है कि देह के धामों में लुब्ध हो कर अथवा फंस कर अपनी प्यारी आत्मा को भूल कर भयंकर कर्म-बंधन में उसे जकड़वाने की भूल न कर बैठें। शरीर को आवश्यकता है अच्छे जड़ पदार्थों की, विषयों, मान पान, सुख, वैभव और सत्ता की। ऐसी इस देह की लालसा में आत्मा मिथ्या-मति, पापाचार, रागद्वेष, मद-माया तथा असद् बर्ताव वाणी-व्यवहार और विचारणा कर कर घोर कर्म बंधन से अपने आप को जकड़ती है। काया का तो क्या जकड़ा जाय ? यह तो उठ कर चल पड़ेगी। अरे ! यह तो अभी खड़ी रह कर आत्मा का निष्कासन करेगी। आत्मा के साथ संबध रखने के लिये तनिक तैयार नहीं। आत्मा को दूसरी काया के जेल में बद होना पड़ेगा। वहां इन कर्म बंधनों के क्रूर विपाक रूप घोर दुःख सहन करने पड़ेंगे। इन से मुक्ति दिलवाने में सगा पिता अथवा प्राण वल्लभा भी असमर्थ है। फिर पुनः ऐसे कर्मों के फल भोगने के लिए प्राप्त दुर्गति के हल्के भव में धर्म की जरा भी समझ, श्रद्धा या प्रवृत्ति भी नहीं होती। फलतः कर्म की भयंकरता बढ़ती है। परिणामस्वरूप अनेकानेक हल्के भवों में दुःख और पीड़ा की भट्ठी में सेकाना पड़ता है, यह सब किसे ? अपने ही 'अपने' अर्थात् आत्मा को। तो बताओ कि उन दुःखों में से थोड़ा भी लेने वाले कौन हैं ? कोई भी नहीं। वैसे भले-बुरे कर्मों का फल कौन करता है ? शरीर नहीं, परन्तु भवचक्र में अनंतानंत काल से भ्रमण करती व ठोकरें खाती हुई अपनी तो आत्मा।

फिर भी हताश होने या घबराने की आवश्यकता नहीं है क्यों कि अपना दूसरा स्वरूप अति सुन्दर है जिस पर आप जरा दृष्टिपात करें। अपने अर्थात् में कौन ? (१) मैं अर्थात् देह और इन्द्रियों पर तप और त्याग से विजय प्राप्त करने वाली आत्मा। (२) मैं अर्थात् पूर्वोक्त मिथ्यामति आदि के बदले सम्यग्-दर्शन, पाप के पच्चक्खान, वैराग्य, प्रशांतता और सद्विचारणा आदि गुणों की अधिकारिणी आत्मा। (३) मैं अर्थात् काया की कैसी भी स्थिति होने पर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नव नव शुभ भावना और ध्यान के योग्य आत्मा। (४) मैं अर्थात् संपूर्ण जगत के जीवों को महान् अभयदान दे सके ऐसी सहासत्व, महानीति, न्याय-संपन्नता, महा ब्रह्मचर्य, और महान् त्यागसेवन की अधिकारिणी आत्मा। (५) मैं अर्थात् विनय विवेक, विराग, विरति, विश्वास आदि 'वि',—(V for Victory) विजय के 'वि',—की अधिकारिणी आत्मा। (६) मैं अर्थात् शांति, क्षमा, सहिष्णुता, सद् आशय, सद् विचार आदि अनेकानेक गुणों और उत्तम धर्म की अधिकारिणी आत्मा। (७) यावत् उत्तरोत्तर सुखमय सद्गति और परमपद के अनंतानंत सुख की अधिकारिणी आत्मा मैं',—इत्यादि इत्यादि। क्यों सुन्दर है न ? ऐसे सुन्दर स्वरूप वाले हमें कहां संकुचित होने या भूलने का है। इस विचारणा में विशेष विषयान्तर तो नहीं हुआ, परन्तु अब अन्य प्रमाणों के साथ विशेषतः आगम-प्रमाण में दर्शनों के मंतव्य और उनकी समालोचना देखें।

आत्म-सिद्धि के लिए उपमान प्रमाण—उपमान प्रमाण से भी आत्मा प्रमाणित होती है क्यों कि इसमें किसी के साथ तुलना करनी पड़ती है और आत्मा की तुलना वायु आदि के साथ हो सकती है। आत्मा वायु जैसी है। शरीर में सुस्ती, पेट का फूलना, तगारे जैसी आवाज वायु छूटना आदि पर से भीतर के अदृश्य वायु का भी बल निश्चित होता है; इसी प्रकार शरीर में होती इष्ट-अनिष्ट के प्रति प्रवृत्ति-निवृत्ति, चेहरे पर दिखाई देती क्रोध-घमंड की मुद्रा, रक्त संचार, नसों का कंपन आदि से शरीर के भीतर अदृश्य आत्म-द्रव्य निश्चित होता है। वायु को हम आंख से देख नहीं सकते, परन्तु कहीं कपड़ा या कागज उड़ा हो तो कहते हैं कि वायु से उडा, इसी प्रकार इन्द्रियों व अंगोपांग की हलचल, मन की विचारणा, आदि हुई तो कहा जाता है कि यह आत्मा के कारण हुई; भले हम आत्मा को आंख से न देख सकें। यदि कोई कहता है कि 'आत्मा वायु जैसी हो तो उसका स्पर्श से अनुभव होना चाहिए और यह प्राण, अपान उदान आदि की भांति अंगोपांग में भिन्न भिन्न होनी चाहिये'; तो उसका कथन ठीक नहीं है, क्यों कि दृष्टान्त सर्वदेशीय नहीं परन्तु एक-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

देशीय होता है । यहां आंख से अदृश्य तत्त्व की एकदेशीय तुलना है ।

अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध होती है क्योंकि जैसे महीनों तक दिन में बिल्कुल न खाने वाले देवदत्त का शरीर पुष्ट दीखता है वहां रात्रि भोजन के बिना शारीरिक पुष्टता घट नहीं सकती; इसी प्रकार मृत्यु के पश्चात् तुरन्त ही जरा भी हलचल करने से असमर्थ शरीर में मृत्यु से पूर्व जो हलचल दिखाई देती है वह जीव की स्थिति के बिना अर्थात् शरीर में गुप्त आत्मा की मौजूदगी के बिना नहीं हो सकती । इस प्रकार अर्थापत्ति से आत्मा सिद्ध है ।

संभव प्रमाण—से भी आत्मा सिद्ध है ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि संभव-प्रमाण एक प्रकार का अनुमान है । जैसे १०० में ५०–५० का योग है । इससे किसी के पास सौ हैं ऐसा जानने के पश्चात् यह अनुमान होता है कि उसके पास पचास तो हैं ही । इस प्रकार बालक की जन्म-समय दिखाई देती इष्ट वृत्ति, चैतन्य-स्फुरण आदि कार्यों के पीछे कुछ अदृश्य हेतु सिद्ध होते हैं । आत्मा इन अदृश्य वस्तुओं में से एक है, इस प्रकार संभव प्रमाण से कहा जाता है कि वहां आत्मा हेतुरूप तो है ही ।

ऐतिह्य प्रमाण—में विद्वान लोगों से तो आत्मा की मान्यता चली ही आ रही है परन्तु पामर जनता में भी परापूर्व से कहा जाता है कि 'अभी तक जीव गया नहीं, शरीर में जीव है'—आदि । यह कथन ऐतिह्य प्रमाण है ।

आगम–प्रमाण : दर्शनों के मत

अब आगम प्रमाण पर विचार करें । आगम अर्थात् शास्त्र न्याय-दर्शन, वैशेषिक दर्शन, बौद्ध दर्शन, वेदान्त दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसक दर्शन इस प्रकार षट्दर्शनों के भी मिलते हैं । जैन दर्शन के शास्त्र इस पर क्या मत और निर्णय देते हैं इसे देखें ।

आगम प्रमाण में भिन्न २ दर्शन-शास्त्र का कैसा २ स्वरूप मानते हैं इस पर विस्तृत विचार तो आगे किया जायगा, परन्तु संक्षिप्त में इतना समझना है कि—

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेदान्त दर्शन वाले—आत्मा को शुद्ध ब्रह्म के रूप में एक ही मानते हैं, परन्तु यह उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जगत के जीवों में जो भिन्नता-विचित्रता पाई जाती है, जैसे कि कोई सुखी–कोई दुःखी, कोई ज्ञानी–कोई मूर्ख. कोई पशु–कोई मनुष्य, कोई धर्मात्मा आस्तिक–कोई पापी नास्तिक, कोई हिंसक–कोई दयालु, इस प्रकार आत्मा यदि एक ही हो तो कैसे हो सकता हैं ? एवं इससे बन्ध–मोक्ष भी घटित नहीं हो सकता ।

सांख्य और योग दर्शन वाले आत्मा–चेतन–पुरुष अनेक तो मानते हैं फिर भी उसे कूटस्थ नित्य–तीनों कालो में परिवर्तन के लिए अयोग्य और उसी से ज्ञानादि गुण विहीन कहते हैं । इसमें तो फिर आत्मा में चैतन्य ही क्या ? आत्मा में मनुष्य देव आदि भव के परिवर्तन क्यों ? बंधन और मोक्ष का क्या ? मोक्ष ही नहीं, तो मोक्षार्थ प्रयत्न फिर किस बात का ?

न्याय वैशेषिक दर्शन वाले:—आत्मा में ज्ञानादि गुण तो मानते हैं परन्तु ज्ञान को सहज गुण नहीं, किन्तु आगन्तुक अर्थात् कारणवश नवीन उत्पन्न होने वाले गुण स्वरूप मानते हैं, कारण न हो तो कोई ज्ञानादि नहीं । वहां प्रश्न पैदा होता है कि यदि ज्ञान चेतन का स्वभाव न हो तो ज्ञान रहित काल में चेतन का चैतन्य स्वरूप क्या ? मोक्ष में तो सदा ज्ञान हीनता ही आयगा अर्थात् जड़ पत्थर जैसी मुक्ति बनेगी । न्याय दर्शन साथ ही आत्मा को एकान्त से नित्य और विश्वव्यापी कहते हैं, परन्तु यह यदि नित्य ही अर्थात् अपरिवर्तनीय ही हो तो समय-समय पर भिन्न २ अवस्थायें कैसे हो सकती हैं ? मोक्षमार्ग किसलिए ? क्योंकि इससे उसमें कोई परिवर्तन तो होगा नहीं । वैसे विश्वव्यापी अर्थात् भवांतर या देशांतर में गमनागमन किस प्रकार ? और सुख-दुःख का ज्ञान शरीर में ही क्यों ?

बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि आत्मा विज्ञान स्वरूप और क्षणिक है । इसमें क्षणिक होने से परिवर्तन तो होता है परन्तु मूल ही गायब हो जाता हो, क्षण में सर्वथा मूलतः नष्ट हो जाता हो तो पूर्वकृत कर्मों का भोक्ता कौन ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

यदि कर्म भोगता है, तो क्षणिक होने से पूर्व में स्वयं तो था ही नहीं फिर ये कर्म किसने किये ? स्मरण भी कैसे हो सकता है ? पहिले जाने, फिर इच्छा करे, फिर प्रवृत्ति करे, पहिले तत्त्वज्ञान, फिर चिंतन, फिर मनन-ध्यान, ये क्रमिक क्रियाएं क्षणिक यानी एकक्षण-स्थायी आत्मा में संगत कैसे हों ? यदि आत्मा विज्ञान स्वरूप ही हो तो आत्मा 'गुण' वस्तु हुई, 'द्रव्य' नहीं। फिर गुण का आधार कौन ? यदि कहें कि 'यही गुण और यही द्रव्य,' तो फिर क्रिया क्या ? इसी प्रकार अन्य गुण भी कैसे घटित हों ? क्यों कि गुण में तो गुण रहेगा नहीं !

यह सब देखते हुए निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा अनेक हैं; देह परिमाणमय हैं; नित्य भी हैं, साथ क्षणिक अर्थात् अनित्य भी हैं, कर्मों के कर्ता और भोक्ता दोनों हैं, कर्मबद्ध होती हैं और मुक्त भी होती हैं, ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञान से भिन्न द्रव्य स्वरूप भी हैं। जैन दर्शन अनेकान्त दृष्टि से आत्मा के ये सभी स्वरूप मानता है। इससे जैन आगम वैसी आत्मा के सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप मिलते हैं।

दया-दान-दमन से आत्म-सिद्धि

इस प्रकार आत्मा जैसी वस्तु नहीं,—ऐसे नास्तिकवाद का खंडन कर के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों से आत्मा सिद्ध की गई। यहां प्रभु श्री महावीरदेव गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति से कहते हैं 'हे गौतम इन्द्रभूति ! यदि आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व हैं, तो ही तेरे वेदशास्त्र में कथित अग्निहोत्रादि यज्ञ के स्वर्गफल आदि घटित हो सकते हैं। यदि आत्मा ही न हो तो यहां से मर कर स्वर्ग में किसका जाना ? इसी तरह 'द द द' दया, दान और दया,—इन तीन की भी क्या आवश्यकता ? निसर्ग का नियम है कि जैसा दो वैसा लो, जैसा बोवो वैसा फल पाओ। अब जैसे दुःख अपनी आत्मा को प्रिय नहीं होता, वैसे ही दूसरे को भी प्रिय नहीं होता; तब दूसरों को दुःख देने पर स्वयं को भी दुःख मिलता ही है; भले इस जीवन में नहीं तो यहां से बाद के जीवन में; किन्तु दुःख तो अवश्य मिलता है। अतः दूसरों को दुःख न पहुँचाते दया करनी चाहिए ऐसा सिद्ध होता है। दान देना भी कर्तव्य है; क्यों कि यहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दिया हो तो परभव में मिलता है। इस प्रकार इन्द्रियों का दमन भी करना ही चाहिये; जिससे ये उच्छृंखल बन कर आत्मा को तामस भाव में दुबो, पाप कर्मों से बांध कर भवांतर में निम्न कोटि के कीट आदि भवों के, या नरक के दुःखों में तंग नहीं करे। इस प्रकार 'द द द' का पालन तभी सार्थक माना जा सकता है कि यदि आत्मा जैसी देह से भिन्न वस्तु जगत में हो।"

अब जगद्गुरु प्रभु महावीर देव आगे फरमाते हैं,—'हे गौतम इन्द्रभूति ! **'विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति !'** इस वेद पंक्ति का अर्थ तू इस प्रकार गलत बताता था कि 'विज्ञानघन' पद के साथ जो 'एव' पद लगा हुआ है, उसे तूने 'भूतेभ्यः' के साथ लगाकर 'पंचभूत से ही आत्मा उत्पन्न होती हैं' ऐसा अर्थ लगाया; परन्तु सही तरह से वेदपंक्ति में 'एव' पद जहां रक्खा हुआ है वहीं लगाने का है जिससे सही अर्थ इस प्रकार निकलेगा :—

'विज्ञानघन एव' अर्थात् विज्ञान का घन ही, विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान, उपयोगरूप यानी स्फुरणरूप ज्ञान; परन्तु मात्र ज्ञानशक्ति, ज्ञानलब्धि नहीं। यह ज्ञान गुण आत्मा के स्वभाव रूप है, अतः वह आत्मा के अभेद भाव से होता है और इसीलिए आत्मा उन उन के ज्ञान उपयोगमय बनती है, अर्थात् ज्ञान का एक घन ही आत्मा बना। विज्ञान के साथ गाढ़ सम्बन्ध आत्मा का बनता है, इससे भी आत्मा विज्ञानघन कहलाती है।

यहां विज्ञान पृथ्वी, पानी आदि भूतों को लेकर उत्पन्न होता है, अर्थात् ज्ञान घड़े का होता है, वस्त्र का होता है, जल का होता है; अतः कहा जाता है कि ज्ञान पृथ्वी आदि विषयों से उत्पन्न हुआ; और आत्मा में अभेद भाव से ज्ञान उत्पन्न हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि नये नये ज्ञानस्वरूप आत्मा का उन उन ज्ञानों को ले कर जन्म हुआ; क्यों कि ज्ञान-आत्मा का अभेदभाव है जैसे अंगुली सीधी हो उसे यदि टेढ़ी की जाए तो उसमें टेढ़ेपन की उत्पत्ति हुई; परन्तु टेढ़ापन अंगुली में अभेदभाव से है। टेढ़ापन अंगुली से बिल्कुल भिन्न ही नहीं, परन्तु अंगुली स्वरूप भी है। इससे ऐसा कहा जाता है कि अंगुली

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्वयं टेढ़ी हो गई। यहां 'हो गई' अर्थात् जन्मी, जन्म पाई, जिससे 'टेढ़ेपन वाली अंगुली हुई' अर्थात् टेढ़ी अंगुली का जन्म हुआ ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञान उत्पन्न हुआ' अर्थात् 'विज्ञानघन आत्मा का जन्म हुआ, ऐसा' कह सकते हैं। तो इससे यह हुआ कि पृथ्वी आदि भूतों से विज्ञानघन का ही जन्म होता है। यहां 'विज्ञानघन ही' इसमें 'ही' कहने से आत्मा के अन्य सुखादि स्वरूपों का निषेध किया; अर्थात् भूत से आत्मा में ज्ञान स्वरूप प्रकट होता है परन्तु सुख स्वरूप नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ।

इस प्रकार इन्द्रभूति गौतम का संदेह निवारण हो जाने से उन्होंने देखा कि इस जगत में ऐसे सर्वज्ञ जैसा शरण और कहां मिले? साथ ही अकिंचित्कर दूसरों का आधार लेने से भी अंत में वे क्या काम आए? फिर मेरी आत्मा का ऐसा स्पष्ट दोषरहित स्वरूप है, तो अब यह पता चलते ही इसकी रक्षा सर्वप्रथम कर लेनी चाहिये अतः 'मुझे वीर प्रभु का शरण हो,' ऐसा निश्चित करके अपने ५०० विद्यार्थियों के साथ प्रभु के पास वहीं का वहीं उन्होंने चारित्र अंगीकार किया, और गृहवास का त्याग कर वे अणगार मुनि बने।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

द्वितीय गणधर–'कर्म संशय'

अब दूसरे गणधर की चर्चा आरम्भ होती है। इन्द्रभूति की दीक्षा के समाचार सुनते ही अग्निभूति चौंक उठे,—'हैं ? यह क्या ? मेरा भाई जो कभी किसी से हारता नहीं, वही विपक्षी वादी के आजन्म शरणागत हो गया !! जरूर कुछ छल हुआ है; तो मैं अब पहिले से ही समझ बूझ कर वहां जाऊँ, और वादी की जाल में न फंस कर उसको निरुत्तर कर के भाई को छुड़वा लाऊँ';—ऐसा सोच कर अपने ५०० विद्यार्थी-समुदाय के साथ आप प्रभु के पास आए।

इन्हें कहां पता था कि 'अकेले भाई ही क्या, यहां तो बड़े अवधिज्ञानी इन्द्र भी मोहित हो जाते हैं ऐसे विश्व-श्रेष्ठ तीर्थंकरपद पर ऐसे वीतराग-सर्वज्ञता पद पर भगवान आरूढ़ है आप भी यहां आएं, इतनी ही देर है। प्रभु आपको नहीं, आपके शत्रु मोह को ठगने के लिए यहां पधारे हैं'। अग्निभूति प्रभु के समवसरण में आए और इन्द्रभूति जी की भांति प्रभु ने इन्हें संबोधित किया और मन का संशय कहा कि 'तुम्हें इस बात की शंका है कि कर्म जैसी वस्तु जगत में होगी क्या ? परन्तु वेद वाक्य का अर्थ तुमने बराबर समझा सोचा नहीं ?'

बस भाई की भांति अग्निभूति भी ठंडे हो गए। सही लगा कि 'ये सर्वज्ञ हैं, अतः अब तो बराबर समझ लूं।' विनयपूर्वक प्रभु के सम्मुख अंजलि बांध कर खड़े रहे।

अग्निभूति को प्रभु ने इस प्रकार समझाना शुरु किया।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर्म की शंका क्यों ?

'हे अग्निभूति ! तुम्हें भिन्न भिन्न दो वाक्य मिले इससे तुम भ्रम में पड़े। **'पुरुष एवेदं हि ग्नि यद्भूतं यच्च भाव्यम्।'** इसका अर्थ तुमने ऐसा किया कि 'जो कुछ भी घटित होने वाला है वह पुरुष अर्थात् आत्मा ही है। अर्थात् जगत की सभी घटनाएं आत्मा के ही प्रभाव से हैं, कर्मसत्ता जैसी कोई चीज ही नहीं। कर्म जैसी वस्तु जगत में यदि होती तो यहां वेद वाक्य में आत्मा के साथ 'ही' नहीं जोड़ा जाता; परन्तु इसमें तो 'आत्मा ही' ऐसा कह कर आत्मा को छोड़ कर अन्य कर्म, काल आदि का निषेध किया है।

परन्तु दूसरी ओर तुम्हें **'स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्'** आदि वाक्य मिले जिससे तुम्हें ऐसा लगा कि 'वेद में स्वर्ग के इच्छुक व्यक्ति को अग्निहोत्र यज्ञ करने का तो कहा है, और अग्निहोत्र यज्ञ तो जब किया तभी समाप्त हो गया, इसके पश्चात् तो आत्मा ने दीर्घ जीवनयापन किया। अतः कई समय बाद में उसका गमन स्वर्ग में हुआ। तब उस अग्निहोत्र से स्वर्गगमन पुण्य कर्म के माध्यम के बिना कैसे हो सकता है ? क्यों कि यदि पुण्य नहीं परन्तु मात्र अग्निहोत्र के पुरुषार्थ वाली आत्मा ही स्वर्ग में कारण हो, तब तो आत्मा को अग्निहोत्र करते ही तुरन्त स्वर्ग मिलना चाहिए ! परन्तु स्वर्ग विलंब से होता है, और उस समय तो आत्मा अग्निहोत्र की पुरुषार्थी नहीं होती। अतः मानना चाहिये कि अग्निहोत्र से शुभ कर्म उत्पन्न होता है। इसे पुण्य कहो अथवा सौभाग्य सद्भाग्य कुछ भी कहो, इसके विपाक से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इस प्रकार वेद की पंक्ति का अर्थ लगाना चाहिए। इससे कर्म है, यह प्रमाणित हुआ।"

'इस प्रकार परस्पर विरोधी बातें मिलने से, हे अग्निभूति ! तुम्हें सदेह हो गया कि **कर्म** जैसा पदार्थ जगत में होगा या नहीं ?' अब इसमें एक प्रकार से सोचने पर हे अग्निभूति ! तुम्हें ऐसा लगता होगा कि—

(१) कर्म दीखते ही नहीं तो ऐसी अदृश्य वस्तु को कैसे मानें।

(२) अगर मानें तब भी कर्मवस्तु घटित नहीं हो सकती; अतः मान्य नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अदृश्य का इन्कार क्यों नहीं कर सके ? :—

पर हे गौतम अग्निभूति ! इस पर दो प्रश्न हैं :

(अ) एक तो यह, कि जो वस्तु दिखाई नहीं देती क्या वह जगत में होती ही नहीं ? और

(ब) दूसरा यह कि वह वस्तु तुम्हें दिखाई नहीं देती अतः नहीं माननी ? या किसी को भी दिखाई नहीं देती अतः नहीं माननी ?

(१-अ) प्रथम प्रश्न के उत्तर में यह समझना है कि ऐसे अनेकानेक बाधक हैं जिनके कारण विद्यमान वस्तु भी हमें दिखाई न दे, फिर भी वह वस्तु हमें माननी तो पड़ती ही है। अपनी आंख अतिनैकट्य वश हमें दिखाई नहीं देती फिर भी क्या हम कहते हैं कि आंख नहीं है ? न देख सकने में ऐसे अनेक बाधक हैं यह आगे सोचेंगे; किन्तु—

अदृश्य कर्म से डरो:—अग्निभूति को भगवान द्वारा कथित ये वचन हमें भी विचारणीय हैं। वस्तु हम देख नहीं सकते, इतने ही से उसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? आधुनिक युग में तार में विद्युत शक्ति, लोहचुम्बक में चुम्बक शक्ति, परमाणु आदि में अदृश्य तत्त्व भी अवश्य माने जाते हैं तो आश्चर्य है कि जब शास्त्र की बात आती है या धर्म और तत्त्व की बात आती है तो 'कहां दीखती है ? कहां दीखती है ? दीखे तो बताओ' ऐसा कह कर उस पर अश्रद्धा की जाती है ! और उसे अस्वीकार किया जाता है। ऐसी अदृश्य कर्मसत्ता की उपेक्षा कर उत्तम मानव भव अज्ञानतावश अत्यल्प-कालिक आयु में तुच्छ विकल्पों, मताग्रहों और विषय सुखों की खातिर भ्रष्ट किया जाता है और भावी अति दीर्घ काल के लिए भयंकर दुःख उत्पन्न किये जाते हैं; परन्तु समझ लेना चाहिए कि ऐसे अनेकानेक कारण हैं कि जिनके जरिए वस्तु नहीं भी दीखती या जानने में नहीं भी आती, इससे उस वस्तु की सत्ता में अश्रद्धा करने का कारण नहीं होता। अश्रद्धा करने वाला पुरुष कर्म-सत्ता को नहीं मानता हुआ भी इतना तो देखता ही है कि,—(१) अपनी इच्छा के विरुद्ध बहुत कुछ हो रहा है, और (२) बहुत इच्छा होने पर भी तदनुसार

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

होता नहीं।' अश्रद्धा करे, पर भी आयुष्य के ह्रास और इच्छाओं की निष्फलता जो जारी है, उसमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता; तो क्यों कर्मतत्त्व पर श्रद्धा न की जाए ? क्यों भवभीरु, पवित्र संयमजीवन यापन करने वाले, सत्यवादी और एकान्त परमार्थ बुद्धि वाले शास्त्रकार जो लिखते हैं, जिस पर श्रद्धा करने के लिए यह दुर्लभ किंमती भव प्राप्त हुआ है, उस पर और उसे बताने वाले शास्त्रकारों पर श्रद्धा करके इस जीवन को धन्य न बनाया जाय ? श्रद्धा की जाएगी तो भविष्य में तदनुकूल पवित्र संयम और त्याग तपस्यादि से जीवन को अलंकृत बनाया जायेगा; परन्तु यदि मूल में श्रद्धा ही नहीं तो खान-पान, ऐश-आराम, गीत नृत्य, भोग विलास, आदि पूर्ण पाशविक वृत्ति वाला जीव कीड़े मकोड़ों में तो क्या, हाथी-हथिनी, कोयल, मोर, गधे आदि पशुओं के अवतार में तो मिल ही जाता है। अतः ज्ञानियों के वचन पर श्रद्धा करनी चाहिये। अस्तु।

अब किन कारणों से वस्तु होते हुए भी ज्ञान में नहीं आती ? इस पर विचार करें। (१) आंख के बहुत नजदीक हो तो न दीखे; जैसे :—आंख में में लगायी हुई काजल, व आंख की पलक। (२) अति दूर जैसे रेल्वे पर दूरस्थ तार के स्तम्भ आंखों के सामने होते हुए भी दिखाई नहीं देते। (३) अति सूक्ष्स, जैसे—परमाणु या रोशनदाने की किरण में उड़ती हुई रज इतनी अधिक सूक्ष्म होती है कि किरण न हो तो उड़ती हुई भी नहीं दीखती। (४) इस तरह मन स्थिर न हो तो दर्शन के समय 'मूर्ति पर मुकुट है या नहीं ? चक्षु बराबर संतुलित हैं या नहीं ? पूजा लाल केसर की ? या पीले की है ?.....' आदि बातों का ध्यान रहता नहीं। ऐसे अन्य भी कारण हैं कि वस्तु होते हुए भी दिखाई नहीं देती, वे ये,—

(सारिणी पृष्ठ ४० पर)

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किन कारणों से वस्तु होने पर भी ध्यान में नहीं आती

कारण	न दिखाई देती वस्तु
अति निकट	पलक, आंखों में काजल
अति दूर	रेलवे लाइन पर खड़े तार के स्तम्भ
अति सूक्ष्म	रोशनदान की किरण में दिखाई देने वाली रज किरण बिना
मन की अस्थिरता	दर्शन समय मूर्ति पर मुकुट था या नहीं ?
अशक्य	स्व कान सिर
इन्द्रियमंदता	चश्मे के बिना अक्षरादि
मतिमंदता	सोने के टंच, मोती का पानी
आवरण	ढंकी हुई वस्तु
पराभव	सूर्य के तेज में तारे
स्वभाव	आकाश, पिशाच
समान वस्तु में मिलना	मूंग और राई में फेंके हुए इन्हीं के दो चार दाने
अन्य लक्ष्य	रूप देखते रस
विस्मरण	१० वर्ष पूर्व देखी हुई
दर्शन-लब्धि के नाश से	अंधे को कुछ भी
गलत समझ या व्युद्ग्रह	पटेल के सोने के जेवर देखने के बाद ऐसे ही
मोह मिथ्यात्व	जीवादि तत्त्व
वृद्धावस्था, सन्निपातादि	पूर्व में कई बार परिचय होने पर भी वैसी बीमारी आदि में वही वस्तु
क्रिया किये बिना	छाछ में मक्खन
संयुक्त द्रव्य	दूध में पानी
अशिक्षण	जौहर आदि पहिचान में न आए
देवमाया	कोयले के रूप में परिवर्तित सुवर्ण

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

अतः कर्म नहीं दिखाई देते इसी पर से कर्म है ही नहीं ऐसा नहीं कह सकते ।

(१–ब) अब दूसरा प्रश्न—'कर्म हमें दिखाई नहीं देते अतः कर्म नहीं हैं', ऐसा नहीं कह सकते; क्यों कि भले हमें न दिखाई दें परन्तु दूसरे की दृष्टि में हों ऐसी भी कई चीजें हैं । अतः 'नहीं, किसी को भी दिखाई नहीं देते, अतः कर्म नहीं' ऐसा कहना गलत है; क्यों कि प्रथम तो कहां हमें सभी जीव ही दिखाई देते हैं कि कोई भी कर्म को देखने वाला नहीं है इसका पता चले ? दिखाई पड़ने वाले जीवों में भी कैसा और कितना ज्ञान है यह हम कहां देख सकते हैं ? भविष्य में कोई भी देखने वाला नहीं होगा ऐसा भी कैसे कह सकते हैं ? अतएव इस प्रकार कर्म को स्वीकार न करना उचित नहीं है । तो,

'कर्म घटमान नहीं' इसके ३ कारण :—

(२) 'कर्म जैसी चीज घटित नहीं हो सकती' ऐसा जो कहा इसमें क्या

(i) कर्म को ले जाने वाला कोई परलोकी नहीं अतः ? या

(ii) भले परलोकगामी कोई हो, तो भी कर्म विचार-संगत नहीं, विचार की कसौटी पर टिक सकती नहीं अतः ? अथवा

(iii) क्या ऐसा कहें कि वस्तु के स्वभाव से ही जगत में सब कुछ होता है, अतः कर्म मानने की क्या आवश्यकता है ?

(२–i) 'परलोकगामी कोई चीज ही लो नहीं, फिर कर्म को कौन साथ जाए ? और इस जीवन के लिए तो कर्म कुछ भी उपयोगी नहीं',—इस प्रकार नहीं कहा जा सकता, क्यों कि परलोकगामी आत्मा सिद्ध हो चुकी है । इसी लिए 'स्वर्ग' की इच्छा वाले के लिए 'अग्निहोत्र यज्ञ करना' आदि वेदवाक्य घटित हो सकते हैं; अन्यथा यदि आत्मा ही नहीं तो यज्ञ करके किस का स्वर्ग-नरक में जाना ?

(२–ii) कर्म विचार-संगत नहीं; क्यों कि कर्मों को अनिमित्तक मानें ? अथवा **सनिमित्तक** ? **अनिमित्तक** अर्थात् कारण सामग्री बिना जन्म लेने वाले ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सनिमित्तक अर्थात् निमित्त हेतु से उत्पन्न होने वाले। दोनों विकल्पों में से प्रथम विकल्प मानने में नहीं आता, क्यों कि कर्म यदि हेतु बिना सहज भाव से ही जन्म लेते हों, तब तो मोक्ष में गए हुओं को भी अनिमित्तक कर्म क्यों न जन्में? अथवा कर्म सदा ही जन्म लिया करें! जिससे कभी किसी का मोक्ष हो न हो। अन्य विकल्प,—

कर्म को जन्म देने वाले ३ निमित्तः

या तो कर्म (१) हिंसा से जन्में, (२) राग द्वेष से जन्में, अथवा (३) कर्म से जन्में।

प्रत्यक्ष में कई खंजर, कटार, कृपाण आदि से क्रूरता पूर्वक पशुओं के टोले के टोले काटने कटवाने वाले सुखी क्यों दिखाई देते हैं? हिंसा से ये तो भयंकर पाप बंधन में फंसते है, तो ये महादुःखी होने चाहिएं। इसके विपरीत, जो लोग जिनेश्वरदेव के पद पंकज की पूजा में परायण रहते हैं और चींटी की भी हिंसा नहीं करते, वे क्यों दरिद्रता के उपद्रव से पीड़ित दिखाई देते हैं? अहिंसा से तो सुख होना चाहिये। कर्म हिंसा से जन्म लेते हों,— ऐसी बात यहां ठीक नहीं बैठती।

यदि कहें कि 'राग-द्वेष से जन्म लेते हैं' तो राग-द्वेष किससे उत्पन्न होते हैं? यदि कर्म से, तो इसी कर्म से नहीं कह सकते। पूर्व कर्म से कहें तो मोक्ष ही उड़ जायगा, क्योंकि राग-द्वेष से कर्म, और कर्म से राग-द्वेष...इस प्रकार परम्परा चलती ही रहेगी, और मोक्ष नहीं, तो शास्त्र निरर्थक!

अगर कर्म से कर्म उत्पन्न कहें, तो कर्म से कर्म-परम्परा जैसे अनादि से चली आई, वैसी ही भविष्य में भी चलती ही रहेगी, व मोक्ष घटित नहीं हो सकेगा। विचार की परीक्षा में कर्म जैसी वस्तु नहीं ऐसा लगता है। कहिये 'यदि जगत में कर्म जैसी वस्तु न हो तो विचित्र कार्य किससे होते हैं? कोई नवजात शिशु सोने की चम्मच से दूध पीता है तो किसी को माता का दूध भी पूरा मिलता नहीं, ऐसी भिन्नता क्यों?' अकस्मात् ही ऐसा होता है। उलटा कर्म मानने पर विडंबना का सामना करना पड़ता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

'अकस्मात् कार्योत्पत्ति' इसका खण्डन

कार्य अकस्मात् उत्पन्न होता हैं, इससे अकस्मात् अर्थात् क्या ?

(१) बिना कारण ही उत्पन्न होता है ।

(२) स्वभाव से उत्पन्न होता है ।

(३) बाह्य अन्य साधन द्वारा नहीं परन्तु स्वयं से ही उत्पन्न होता है । यह 'स्वात्महेतुक' है ।

(४) किसी कारण से नहीं परन्तु असत् पदार्थ से उत्पन्न होता है ।

(१) **'कारण बिना कार्य'** यह कहना गलत है । स्थान स्थान पर अनुभव होता हैं कि कार्य के लिए कारण को ढूंढना या प्राप्त करना पड़ता है । अग्नि हो तभी धुआं, दूध में से ही दही, दही हो तभी मक्खन ।

(२) **स्वभाव के ४ अर्थ**—(i) यदि सब स्वभाव से हो जैसे अग्नि की ज्वाला ऊंची ही, वायु तिरछी ही, अग्नि उष्णता दे, पानी शीतलता प्रदान करे, कांटा तीक्ष्ण ही है, तो स्वभाव का अर्थ क्या ? 'स्वभाव'=स्व का भाव, यह (i) वस्तु का कोई धर्म (ii) वस्तु की सत्ता, (iii) वस्तु विशेष, अथवा (iv) स्व का भाव अर्थात् काल–पर्याय हो सके । अब

(i) स्वभाव से यानी अपने धर्म से उत्पन्न होता है, कहो; परन्तु अभी तक जिस वस्तु का ही जन्म नहीं हुआ तो उसका धर्म ही कहां है ? बिना धर्म के यह वस्तु उत्पन्न हुई कैसे ? धर्म को भिन्न मानना हो तो वह कर्म का ही भाई हुआ न ?

(ii) 'वस्तु की सत्ता' यह स्वभाव मानने में कार्य के सिवाय बाहर से तो कुछ भी लाना नहीं, कार्य ही वस्तु गिना जायगा, इसकी सत्ता अभी तक आई नही तो स्वयं स्वयं को किस प्रकार जन्म दे ?

(iii) वस्तु विशेष क्या है—द्रव्य, गुण या क्रिया ? यदि यह भिन्न वस्तु है तब तो वस्तु भिन्न कारण से बनी ! स्वभाव से होने का क्या रहा ?

(iv) स्वभाव कर के स्व का काल पर्याय लेकर काल में से कार्य वस्तु

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जन्म लेती है ऐसा यदि कहें, तो एक ही काल में तो अनेक वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, फिर कार्यों में भिन्नता क्यों ? कारण-भेद बिना कार्य-भेद नहीं ।

(३) स्वात्महेतुक—स्वयं स्वयं से ही उत्पन्न होता है यह बात बुद्धिसंगत नहीं है । अपने स्वयं से उत्पन्न होने के लिये स्वयं अपनी प्रथम उपस्थिति होनी चाहिये । यदि उपस्थिति है, तो फिर उत्पन्न होना क्या शेष रहा ? यदि शेष है अर्थात् अभी उपस्थिति ही नहीं, तो 'अपने स्वयं से' सम्भव ही कहां से ?

(४) 'असत् से उत्पत्ति' यह भी गलत । असत् कोई चीज ही नहीं है, तो इससे उत्पन्न होना क्या ? एवं खरश्रृंग-सम से उत्पन्न होने वाला इसके समान असत् ही हो न ? अथवा चाहे जो यदि उत्पन्न हो सके, तब तो फिर किसी को गरीब, किसी को भूखा, व किसी को रोगी रहने की क्या आवश्यकता ? क्यों कि पैसा, अन्न, आरोग्य असत् से उत्पन्न हो जाएंगे । अथवा असत् से उत्पन्न होता हो तो कार्य समान रूप के हो, किंतु कभी बाल्यकाल, कभी युवावस्था, ऐसे विषम कार्य क्यों ? अथवा सम–विषम कार्य सब साथ होने लगे,—सर्दी-गर्मी, रोग-आरोग्य, जीवन-मृत्यु आदि !

इसलिए कार्य अकस्मात् उत्पन्न होता है, यह बात सर्वथा गलत सिद्ध होती है ।

कर्म की उत्पत्ति (i) हिंसा से, (ii) राग द्वेष से, (iii) कर्म से, इन तीनों प्रकार से बराबर है ।

(i) कर्म दो प्रकार के होते हैं:—पुण्यानुबन्धी और पापानुबन्धी । पुण्यानुबन्धी कर्म वे हैं जिनके उदित होने पर पुण्योपार्जन की परिस्थिति उपस्थित होती है । पापानुबन्धी कर्म वे है जिनके उदित होने पर पापोपार्जन की प्रवृत्ति होती है । भोग्य कर्म भी कोई शुभ होते हैं तो कोई अशुभ । इस प्रकार इनके कुल चार भेद होते हैं:—

(२) पुण्यानुबन्धी पुण्य, (२) पापानुबन्धी पुण्य, (३) पुण्यानुबन्धी पाप, (४) पापानुबन्धी पाप ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इनमें से वर्तमान में जो लोग हिंसक, निर्दयी, दुराचारी आदि होते हुए भी सुखी हैं, उनको पापानुबन्धी पुण्य का उदय गिना जाता है। कर्म-बन्धन अभी ही किया और तत्काल उनका उदय हुआ,—बहुधा ऐसा नहीं होता है। जिन जीवों ने पूर्व भव में दान, शील, तप, प्रभु-भक्ति से पुण्योपार्जन किया तो है किंतु सांसारिक आकांक्षा से, उन्हें इस जन्म में लक्ष्मी आदि के सुख जरूर मिलते हैं परन्तु दूसरी ओर हिंसादि पाप कार्यों में ये लीन होते हैं। पूर्व भव में दुष्ट आकांक्षा की, अतः इसके कुसंस्कार यहां चले आने से मोहमूढ राग व लालसाएं होती है। इसके विपरीत जिसने पूर्व में पापाचार किये हैं, परन्तु पीछे पश्चात्ताप और धर्म-कार्य किए हैं, उन्हें यहाँ पाप के फल दुःख तो वहन करने ही पड़ते हैं परन्तु साथ ही पूर्व के पाप—घृणा के सुसंस्कारवश सद्गुरू का समागमन, सद्वाचन, सद्विचार आदि के द्वारा धर्माराधन व सद्गुणाभ्यास करने को भी मिलता है। सद्गुणों को वह ग्रहण करता है। इससे नवीन सम्पत्ति में पुण्य इकट्ठा होता जाता है; इसे पुण्यानुबंधी अशुभ कर्म का उदय कहते हैं। इसमें जिनेश्वर देव के चरण कमल की पूजा में परायणता, दया, व सदाचार होते हैं। इन सब का फल भावी भव में प्राप्त होगा।

व्यवहार में भी दीखता है कि लग्नादि प्रसंगों में भारी पदार्थ सीमा से परे खाए पीए हों, तो फिर शरीर रुग्ण होता है और भूखा रहना पड़ता है। अब भूखा रहते समय यदि कोई कहे कि ये भाई साहब ने तो आज कुछ भी नहीं खाया फिर भी ये बीमार क्यों? बस इस पर 'कम खाने से बीमारी होती है' ऐसा नियम बना लें तो गलत हैं। इसी तरह एक व्यक्ति के शरीर में शक्ति (Vitality) का प्रचार अच्छा हो उन दिनों में वह कदाचित् कुपथ्य सेवन कर ले, आवश्यकता से अधिक खा ले और फिर भी हृष्ट-पुष्ट होता दिखाई दे, और इस पर यदि कोई नियम बना ले कि 'अत्यधिक खाने से और भारी पदार्थ खाने से सुखी बनते हैं' तो यह नियम भी गलत। यहां जो रोग या आरोग्यता है, वह पूर्वाचरण का फल है, और वर्तमान में जो आचरण हो रहा है उसका फल तो भविष्य में मिलेगा। इसी प्रकार धर्म अधर्म और पुण्य पाप के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विषय में भी समझें। अतः हिंसा से कर्म का जन्म होता है, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

अब दूसरी बात लें कि 'राग-द्वेष से कर्म का जन्म होता है।' इसमें इतना तो सत्य है कि पूर्व कृत कर्मों से यहां रागद्वेष होता है, परन्तु यदि इस रागद्वेष को सफल नहीं बनाया जाय तो नवीन कर्म-बंधन से बच सकते हैं; जैसे किसी पर द्वेष जागृत हुआ हो, परन्तु इसका फल न बैठने दे; यानी स्वयं को वश में रख कर मुंह बिगाड़ना, कठोर शब्द कहना, मारने के लिए तत्पर होना आदि न करें, तो नवीन कर्मों का बंधन नहीं लगता। नीतिमान को धन पर राग होता है परन्तु कभी भी पराये पैसे चोरी करने या लूटने की बात नहीं। उल्टा अपने राग की निन्दा करता है जिससे भारी कर्म-बंधन नहीं लगता।

'समरादित्य केवली महर्षि चरित्र', 'उपमिति' आदि ग्रन्थ पढ़ कर समझ कर वैराग्य भावना का पोषण करें, तत्त्व बुद्धि जाग्रत् करें, दीर्घातिदीर्घ द्रष्टा बने, जहां तक बने रागद्वेष करे नहीं, तो कर्म परम्परा नहीं चलती।

(iii) तीसरी बात है 'कर्म से कर्म बंधन'—आत्मा पर जहां तक पूर्वकृत कर्मों का दल बैठा हुआ होता है वहीं तक नये कर्मों का बंधन होता है; क्यों कि (१) इन कर्मों के उदय से ही हिंसादि भाव और रागादि दोषों का जन्म होता है। (२) ऐसे कर्मों को हटाने के बाद भी कर्मदत्त मन वचन काया की प्रवृत्ति रहती है वहीं तक नये कर्मों का बंधन होता है। इसी प्रकार (३) अकेली शुद्ध अरूपी आत्मा पर नहीं किन्तु आत्मा पर लगे हुए पुराने कर्मों के लेप पर ही नए कर्म चिपक सकते हैं। बाकी ये जो हिंसादि और रागादि वे कर्म-बन्ध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग में समा जाते हैं। आइये, अब कर्म-सिद्धि के अनुमानों पर विचार करें।

कर्म-सिद्धि के अनुमान

(१) बात यह है कि 'जो तुल्ल साहणाणं फले विसेसो न सो विणा हेउं'। अन्य बाह्य कारण सामग्री समान होने पर भी यदि दो कार्यों में अन्तर दिखाई देता हो तो वह अंतरंग किसी असमान कारण के बिना नहीं हो सकता।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

जैसे एक ही व्यक्ति से निर्मित दो रचनाएं, सामग्री समान होते हुए भी, अंतरंग उत्साह में अन्तर होने से असमान बनती हैं। इस प्रकार सुख दुःख के मुख्य अव्यभिचारी अंतरंग कारण रूप में कर्म मानने चाहियें। पक्वान्न, चंदन, स्त्री आदि,....तथा कांटा सर्दी, गर्मी, विष, आदि बाह्य कारण अनुक्रम से सुख और दुःख अवश्य देते ही हैं,—ऐसा नियम नहीं है। इसी से किसी को सुख के बदले दुःख और दुःख के बदले सुख मिलता है। इससे सूचित होता है कि सुख दुःख का नियमन करने वाला कोई कारण अवश्य है और वह है कर्म।

(२) वर्तमान शरीर और पूर्व भव के शरीर के बीच कर्म शरीर (कार्मण शरीर) न हो तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा बीच में शुद्ध थी। तो फिर इसे इस जीवन में अमुक शरीर आदि ही क्यों मिले ?

प्रश्न—पूर्व शरीर के सुकृत दुष्कृत के हिसाब से ऐसा हो सकता है न ?

उत्तर—नहीं, क्यों कि कार्य शरीरादि अब होते हैं और कारणभूत सुकृत-दुष्कृतक्रिया तो पूर्व भव में की थी तभी नष्ट हो गई। अब कार्य के लिए नियम तो ऐसा है कि कारण कार्य के पूर्व क्षण में रहना ही चाहिए। उदाहरण के लिए भोजन की क्रिया तो की, परन्तु फिर तुरन्त कुछ ऐसा खा लेने से वमन हुआ तो शरीर की पुष्टि क्यों नहीं होती ? भोजन क्रिया से शरीर की पुष्टि होती है ? वह क्रिया तो पहिले की गई है इससे पुष्टि होनी चाहिए। परन्तु कहना चाहिए कि इस क्रिया से रस, रुधिर आदि बने हों तो पुष्टि हो न ? लेकिन वमन से बने ही नहीं। इसी प्रकार सुकृत दुष्कृत से शुभाशुभ कर्म बने हों, जो कि आत्मा के साथ चले आए, तभी यह वर्तमान शरीर बनता है।

(३) जीव दानादि क्रिया करता है इसका फल क्या ? जैसे कृषि का फल फसल होता है, तो दान का भी कुछ फल होना चाहिए, वही कर्म है।

प्रश्न—ऐसे तो कृषि निष्फल जाती हैं न ?

उत्तर—जाती तो है यदि अन्य सामग्री में कमी हो; परन्तु फिर भी

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सफल समझ कर की जाती है और अन्य सामग्री पूरी हो तो फल निःसन्देह आते ही हैं। तो दानादि का फल क्या ?

प्रश्न— मन की प्रसन्नता को फल कह सकते हैं न ? जैसे—सुपात्रदान से चित्त आह्लादित मालूम होता है।

उत्तर— ठीक है, परन्तु यह भी एक क्रिया है तो इसका भी फल क्या ?

प्रश्न—इसका फल अन्य दानादि क्रिया।

उत्तर—परन्तु अन्तिम मन की प्रसन्नता जिसके पीछे दानादि क्रिया नहीं हुई उसका फल क्या ? तो कहेंगे कर्म।

प्रश्न—फल तो जैसे हिंसा का दृश्य फल मांस-प्राप्ति, ऐसे ही दानादि का दृश्यफल प्रशसा, कीर्ति आदि मान सकते हैं,—फिर अदृश्यफल मानने की क्या आवश्यकता है ? संसार में भी दिखाई देता है कि प्रायः जीव यहां प्रत्यक्ष फल मिले ऐसी क्रियाओं में प्रवर्तमान रहते हैं। आपने खेती का दृष्टांत दिया उसके आधार पर भी दानादि का दृश्य फल मानना चाहिये। दृश्य फल जहां हो वहां अदृश्य फल की कल्पना क्यों ? भोजन का दृश्य फल तृप्ति है, या कृषि का दृश्य फल फसल है, तो अदृश्य फल कहां मानने में आता है ?

उत्तर—प्रत्येक क्रिया का दृश्य फल तो कदाचित् न भी हो, फिर भी अदृश्य फल तो होता ही है। अतः दृश्य फल के साथ अदृश्य फल का भी होना मानना चाहिए। हिंसादि क्रियाओं के मांस-प्राप्ति आदि दृश्य फल भले हों, फिर भी इनका अदृश्य फल पाप मानना ही चाहिए। अन्यथा इस संसार में जीव अनंत काल से क्यों भटकते रहते हैं ? हिंसादि अशुभ क्रिया करने वाले बहुत हैं अतः दुःखी और संसार में भटकने वाले भी बहुत; इसके विपरीत दानादि शुभ किया करने वाले थोड़े ! और सुखी तथा मोक्ष प्राप्त करने वाले भी थोड़े ! इस पर शुभाशुभ क्रिया का सुख-दुःख के साथ मेल मिलता है कि शुभ क्रिया से सुख, व अशुभ क्रिया से दुःख, किन्तु यह बीच की कर्मरूपी सांकल से ही बन सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रश्न—दानादि क्रियाएं तो पुण्य की अभिलाषा से होती हैं अतः इनका फल पुण्य भले मिले, परन्तु हिंसादि क्रिया करने वालों को कहां पाप की यानी अशुभ कर्म–लाभ की अभिलाषा होती है ? फिर उसे ऐसा फल क्यों मिले ?

उत्तर—फलजनन में अभिलाषा का नियम नहीं कि यह हो तभी फल मिले। खेती में बिना इच्छा के अनजान में भी कहीं बीज पड़ गए हों तो उनमें से फसल पैदा होती ही हैं। अतः नियम इतना ही कि अभिलाषा हो या न हो, परन्तु कारण सामग्री जहां हो वहां कार्य अवश्य होता है। व्यवहार में स्पष्ट दिखाई देता है कि आशंसा-आकांक्षा-विहीन कृत सेवा ऊंचा फल देती है; तो अशुभ कर्म की इच्छा न होने पर भी हिंसादि क्रिया ये देती ही है, ऐसा क्यों न माना जाय ?

शुभ-अशुभ क्रिया का अदृश्य फल ही न हो तो सभी जीवों को जीवन का अन्त होने पर मोक्ष ही मिल जाय। क्योंकि जब अदृश्य फल कर्म है ही नहीं, तब इस जीवन के बाद कर्म बिना जीवों का भावी विचित्र संसार किस प्रकार चले ? अब यदि 'दानादि शुभ क्रियाओं का तो दृश्य फल नहीं होने से अदृश्य फल शुभ कर्म होता है, परन्तु हिंसादि क्रियाओं का दृश्य फल मांस प्राप्ति आदि ही है' ऐसा मानकर मन मना लो, और हिंसादि का अदृश्य फल ही न मानो, तब तो अकेली हिंसादि अशुभ क्रिया वाले का तो मोक्ष ही होगा ! और दानादि शुभ क्रिया करने वाले को इसका अदृश्य फल शुभ कर्म भोगने के लिए संसार में रहना पड़ेगा ! और फिर भवान्तर में भी पुनः दानादि करेगा, तो उससे नये शुभ कर्म, नया भव,....इस प्रकार संसार में जकड़ा ही रहेगा। किंतु यह कल्पना मात्र है; हकीकत में यों तो हिंसकादि सब के सब मुक्त हो जाने से अब इतने हिंसक असत्यभाषी आदि क्यों दिखाई पड़ते ? और दानी आदि ही रह जाने से दुनिया में मात्र सुखी ही सुखी दिखाई पड़ते ! किंतु ऐसा है नहीं, दुनिया में दुःखी ही बहुत दीखते है। इससे पता चलता है कि हिंसादि प्रत्येक क्रिया का दृश्य फल होने पर भी अदृश्य फल कर्म तो होता ही है। इसीलिये ऐसे पाप करने वाले बहुत सों के हिसाब से दुःखी भी बहुत होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रश्न—हिंसादि क्रिया करने वाला अदृश्य फल अशुभ कर्म का इच्छुक तो नहीं होता. फिर भी उसे वह मिलता है, और दृश्य फल की इच्छा होने पर भी कई बार नहीं भी मिलता, ऐसा क्यों ?

उत्तर—यह बात कर्म का और अधिक प्रमाण है। कषाय और योग (क्रिया) से अदृश्य फल कर्म की उत्पत्ति होती है। अतः हिंसादि क्रिया से अदृश्य कर्म की उत्पत्ति तो अवश्य होती है, जब कि दृश्य फल तो पूर्वकृत तदनुकूल कर्मों का उदय होने पर ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए तो समान सामग्री लेकर व्यापार करने पर कितने ही जनों को वांछित धन नहीं मिलता, अथवा धन-लाभ में अंतर पड़ता है। दृष्ट सामग्री समान होने पर भी सुख दुःखादि फल में भेद होता है, उस भेद का कारण अदृश्य कर्म का भेद ही मानना पड़ता है। 'अदृश्य कैसे काम करे ?' यह मत कहना, कार्य-घट के पीछे परमाणु काम करते ही हैं भले वे अदृश्य क्यों न हो ?

प्रश्न—ठीक हैं, तो भी ये अदृश्य तत्त्व कर्म यह अमूर्त आत्मा की वस्तु से अमूर्त गुण रूप ही सिद्ध होते है न ?

उत्तर—नहीं, ऐसा नियम नहीं कि आत्मा की वस्तु अमूर्त अरूपी ही हो, शरीर आत्मा का ही होने पर भी अमूर्त कहां है ?

'कर्म मूर्त है'—यह इन पांच हेतुओं से सिद्ध होता है,—

(१) जो जो कार्य मूर्त होते हैं उनके कारण भी मूर्त होते हैं; जैसे घड़े के कारण परमाणु मूर्त हैं। कार्य अमूर्त हो वहां यह नियम नहीं। उदाहरणार्थ—ज्ञान यह अमूर्त कार्य है, परन्तु उसका कारण आत्मा मूर्त नहीं। बाकी कर्म का कार्य शरीरादि मूर्त होने से, ये कारणभूत कर्म मूर्त सिद्ध होते हैं।

(२) जिसके सम्बन्ध से सुख होता है वह मूर्त होता है। जैसे—आहार के सम्बन्ध से सुख का अनुभव होता है, तो आहार मूर्त है। इसी प्रकार कर्म के सम्बन्ध से सुख होता है अतः कर्म मूर्त हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) जिसके सम्बन्ध से वेदना हो वह भी मूर्त होता है; जैसे—अग्नि के सम्बन्ध से। इस प्रकार उदित (उदय-प्राप्त) कर्म के सम्बन्ध से वेदना होती है अतः कर्म मूर्त होते हैं।

प्रश्न—अच्छे बुरे ज्ञानमय विचारों का तन्दुरस्ती पर असर पड़ता है वहां यह नियम कहां रहा ? ज्ञान तो अमूर्त है।

उत्तर—वहां भी प्रभाव डालने वाले विचार जिनके सम्बन्ध से सुख-दुःख होता है, वे मूर्त हैं; क्योंकि वे मूर्त मानसवर्गणा से निर्मित मनरूप हैं।

(४) जो वस्तु आत्मा और आत्मगुण ज्ञानादि से भिन्न हो और बाह्य कारणों से पुष्ट होती हो वह मूर्त है; जैसे—तेल से घड़ा पुष्ट दृढ़ बनता हैं, इसी प्रकार सुकृतों से पुण्य और दुष्कृतों से पाप पुष्ट होते हैं। अतः ये पुण्य और पाप मूर्त हैं। ज्ञानादि से भिन्न इसलिए कहा क्योंकि यह ज्ञान बाह्य वस्तु गुरू, पुस्तक, ब्राह्मी आदि से पुष्ट होने पर भी मूर्त नहीं हैं।

(५) जिसका कार्य परिणामी होता है वह स्वयं परिणामी होता हैं। एवं आत्मादि से भिन्न तथा परिणामी वस्तु मूर्त होती है; जैसे—दूध का कार्य दही परिणामी है, छाछ आदि परिणाम में परिणमित होने वाली दही वस्तु है तो दूध स्वयं परिणामी और मूर्त वस्तु है; इस प्रकार कर्म का कार्य शरीरादि परिणामी वस्तु है, अतः स्वयं कर्म भी परिणामी होने चाहिएं और इसीलिए मूर्त ही होते है। 'कर्म भी आत्मा का कार्य होता हुआ परिणामी है सो कारण-भूत आत्मा भी परिणामी ही होनी चाहिए' ऐसा मत कहिए, चूंकि कर्म अकेली शुद्ध आत्मा का कार्य नहीं, किंतु पूर्व कर्मयुक्त आत्मा का अर्थात् आत्मा पर लगे पूर्व कर्मों के विपाक का कार्य है और पूर्व कर्म तो मूर्त परिणामी है ही, तो कर्मयुक्त आत्मा भी कदाचित् मूर्त परिणामी हैं।

प्रश्न—सुख दुःखादि की विचित्रता के लिए कर्मों को मानते हो, परन्तु आकाश के बादल, इन्द्र धनुष, संध्या आदि विचित्र विकारों को भांति ये सुख, दुःखादि स्वाभाविक क्यों नहीं हो सकते ? कर्म की क्या आवश्यकता है ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्तर—आकाश के विकार नियत है। संध्या प्रातः व सायं ही होती है। बादल विशेष कर वर्षा ऋतु में ही आते हैं। इन्द्र-धनुष भी प्रातः व सायं ही पानी के बादलों में से सूर्यरश्मि पार हो तभी बनता है; जब कि सुख-दुःख अनियमित रूप से भी होते दिखाई देते हैं, अतः उन्हें सहज नहीं कह सकते। इतना ही नहीं आकाशीय विकार भी निश्चित काल और निश्चित संयोगों में ही होते है, इससे पता चलता है कि ये सब भी मात्र स्वभाव से नहीं किंतु कारण-वश उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सुख-दुःख स्वभाव से नहीं परन्तु कर्मरूपी कारण मिलें, तभी होते हैं।

प्रश्न—ठीक हो, तो फिर आत्मा में कर्म के विकार स्वाभाविक मानो।

उत्तर—कारण बिना कभी कार्य नहीं बनता। स्वभाव भी एक आवश्यक कारण है किंतु उसके साथ काल, पुरुषार्थ, निमित्त-साधनादि कारण भी आवश्यक हैं।

प्रश्न—आकाश में सीधे सीधे विचित्र विकार होते है, वैसे ही शरीर में सीधे सीधे सुख-दुःखादि विकार हों। अर्थात् सुख-दुःखादि का कारण सीधा शरीर ही कहो, बीच में कर्म को लाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—शरीर कारण रूप से स्वीकृत है, परन्तु इतना लिख लो कि कर्म-दल भी शरीर (कार्मण) ही है। यदि इसे न मानें तो वर्तमान शरीर को छोड़ कर गई हुई आत्मा बाद के भव में कारणाभाव में स्थूल शरीर कैसे ग्रहण करे? और वह भी विशेष प्रकार का ही कैसे ग्रहण करती है? अर्थात् ऐसा नहीं होना चाहिये। इससे तो यहां की मृत्यु से ही संसार का अन्त और मुक्ति ही हो जाय! दूसरी आपत्ति यह कि यदि अशरीरी के लिए भी संसार हो तब तो मोक्षगत आत्माओं को भी यह हो और इससे तो मोक्ष की आस्था ही उठ जाय।

प्रश्न—मूर्त कर्म का अमूर्त कर्म के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है?

उत्तर—(१) धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय अमूर्त होने पर भी उनका

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

मूर्त पुद्गल के साथ संबंध हो सकता है तभी तो वह गति-स्थिति में उपकारक बनता है। संबंध बिना कैसे बन सकता है ?

(२) स्थूल शरीर भी आत्मा के साथ संबद्ध हुआ हैं ऐसा अनुभव है; अन्यथा जीवित और मृत शरीर के बीच भेद कैसे हो ? इसी प्रकार मूर्त कर्म का आत्मा के साथ संबंध हो सकता है। अथवा संसारी आत्मा सर्वथा अमूर्त नहीं, किंतु अनादि कर्मप्रवाह के परिणाम में पतित आत्मा पूर्व कर्म के क्षीरनीरवत् संबंध में हो कथंचित् मूर्त भी है, इससे उस पर नये मूर्त कर्म का संबंध हो सकता है। इसीलिए तो सर्वथा कर्मरहित बनी हुई मुक्त आत्मा अब सर्वथा अरूपी होने से उस पर कर्म संबंध होता नहीं।

प्रश्न—चंदन के विलेपन और तलवार के प्रहार से अरूपी आकाश पर जैसे कोई अनुग्रह-उपघात नहीं होता, उसी तरह अरूपी आत्मा पर शुभाशुभ मूर्त कर्म के अनुग्रह-उपग्रह कैसे हो ?

उत्तर—(१) दृष्टांत विषम है; क्यों कि आकाश में उन वस्तुओं का, आत्मा में कर्म की भांति, संबध नहीं है। (२) आत्मा में भले बुरे आहारादि के अनुग्रह-उपघात प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। (३) अमूर्त बुद्धि पर ब्राह्मी-मदिरा के अनुग्रह-उपघात होते ही है। वैसे ही आत्मा पर कर्म के अनुग्रह-उपघात हो सकते हैं।

प्रश्न—(१) शरीरादि का कर्ता कर्म क्यों ? शुद्ध आत्मा (ब्रह्म) अथवा ईश्वर कर्ता क्यों नहीं ?

उत्तर—(१) कुम्हार या लोहार की भांति उपकरण के बिना यह शुद्ध आत्मा या ईश्वर क्या कर सकता है ? गर्भावस्था में कर्म बिना अन्य कोई उपकरण संभवित नहीं हैं। रजोवीर्यग्रहण भी कर्म बिना नहीं होता, अन्यथा शुद्ध मुक्त आत्मा को भी होना चाहिए।

(२) बिना कर्म के शुद्धात्मा अथवा ईश्वर कर्ता नहीं बन सकते, क्योंकि निष्क्रिय है, अमूर्त है, अशरीरी है, व्यापक है, जैसे—आकाश; अथवा एक है, जैसे एक परमाणु।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रश्न—ईश्वर अपने सर्व व्यापक शरीर से कर्ता बन सकता है न ?

उत्तर—यदि यह सिद्धांत मान लेते हो कि 'कार्य करने के लिए ईश्वर को भी शरीर चाहिए,' तब तो प्रश्न यह है कि अपना शरीर भी एक कार्य हैं; इसे बनाने के लिए ईश्वर के पास कौन सा शरीर ? यदि कहते हो कि वह तो ऐसे ही बनता है, तब तो जीवों के शरीरादि भी क्यों ऐसे ही नहीं बना लेता ? यदि कहते हो—'हां बनाता ही है' तब तो बिना निमित्त उपादान कार्य की आपत्ति ! एवं इसका प्रयोजन क्या ? यदि वह निष्प्रयोजन बनाता रहता है, तब उसे उन्मत्त ही कहें न ? फिर मान लो कभी ऐसे ही करता है तो फिर सबको समान ही बना ले, विचित्र क्यों ? कहिये प्रयोजन दया है, दया से करता है, तो सबको अच्छा ही और सुखकारी करे, बुरा और दुःखकारी क्यों बनाता है ? यदि जीवों के कर्मानुसार करता है, तब तो कर्मवस्तु सिद्ध हो गई ! खैर, लेकिन फिर भी अज्ञानी-मूढ व्यक्तियों के निष्फल कार्यों में अथवा उल्टे कार्यों में तथा खूनी-बदमाशों के खून-बदमाशी के कार्यों में ईश्वर का हाथ मानना पड़ेगा, तब इसमें ईश्वर की अपनी सज्ञान दशा अथवा सज्जनता कहां रही ? यदि जीव के अपराध रोकने की अपनी शक्ति न हो तो वह सर्वशक्तिमान् कहां से ? यदि ऐसा नहीं तो दण्ड देने की शक्ति किस प्रकार ? यदि कहें कि दण्ड तो जीव के अपने कर्म ही देते हैं तब तो कर्ता के रूप में कर्म हीं और कर्मयुक्त जीव ही सिद्ध होता है, ईश्वर नहीं । तो अब मूल प्रश्न आ कर उपस्थित होता हैं,—

'पुरुषेवेदं ग्निं'—इस वेद-पंक्ति का क्या ?

वेद पंक्ति यह है,—'पुरुषेवेदं ग्निं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानः, यदन्नेनाधिरोहति, यदेजति, यन्नैजति, यद् दूरे, यदु अन्तिके, यदन्तः सर्वस्यास्य बाह्यतः । अर्थात् 'जो कुछ हुआ, और जो होगा, जो अमृतपन का भी प्रभु है, जो अन्न से अतिशय बढ़ता है, जो चलता कंपता है (पशु आदि), जो नहीं चलता कंपता (पर्वतादि), जो दूर है (मेरू आदि), जो समीप है, जो मध्य है, जो इस (चेतनाचेतन) सर्व में अन्तर्गत हैं व सर्व से बाहर है, वह सब पुरुष ही है ।'

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इससे अकेले पुरुष की ही सत्ता का पता चलता है, कर्म का नहीं। इसी प्रकार 'विज्ञानघन एव....' पंक्ति से विज्ञान समूह ही, अर्थात् कर्म नहीं ऐसा लगता है।

परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि ये वेद-पंक्तियां पुरुष मात्र की स्तुति करती हैं। ऐसा करने का उद्देश्य 'मैं ब्राह्मण जाति का, मैं क्षत्रिय जाति का' ऐसा जातिमद छुड़वाने के लिए नीच जाति वाले के साथ भी अद्वैत की—एक रूपता की भावना करवाना हैं कि—'मैं और यह पुरुष आत्मरूप से एक हैं, फिर ऊंच-नीच किस बात की ?' शास्त्रों के वाक्यों का विवेक करना चाहिये कि यह किस प्रकार का वाक्य हैं ? व्यवहार में भी कोई जोश देने वाला वाक्य होता है, तो कोई मजाक का, तो कोई वस्तुस्थिति का सूचक होगा, भले शब्द फिर एक से हों। निराश होते हुए विद्यार्थी को कहा जाता है,—'तू तो होशियार है', अर्थात् परिश्रम कर, सफलता पाएगा। बुद्धिहीन परन्तु अधिक समझदारी के दिखाऊ को भी 'भाई, तू होशियार है' ऐसा कहा जाता है परन्तु मजाक में। अच्छे बुद्धिमान परिश्रमी को जब कहते हैं कि 'तू तो होशियार है' तो इसका अर्थ है तुझे परीक्षा सरल लगती है।

इस प्रकार वेद के तीन प्रकार के वाक्य मिलते हैं— १. विधिवाक्य, २. अर्थवाद, और ३. अनुवाद वाक्य.। (१) **विधिवाद** अर्थात कुछ करने या न करने का निर्देश करने वाले वचन, जैसे कहा,—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः स्वर्गेच्छु अग्निहोत्र यज्ञ करे। 'मा हिंस्यात्'—हिंसा नहीं करनी। (२) **अर्थवाद** अर्थात् स्तुति या निन्दा के भाववाले वाक्य; जैसे—'एकया पूर्णयाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति'—एक पूर्ण आहुति से सर्वइच्छित की प्राप्ति होती है'। यह पूर्ण आहुति की स्तुति है, परन्तु विधिवाद नहीं; क्यों कि तब तो फिर इतना ही कर के बैठ जाए अग्निहोत्रादि यज्ञ क्यों करे ? वे व्यर्थ ठहरते हैं! फिर भी स्तुति करके यह सूचित करता है कि इतना तो अवश्य करें व यह ठीक प्रकार से करना।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वेद वाक्य का समाधान:—

इस प्रकार 'एष वः प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोमः' यानी 'अग्निष्टोम तुम्हारा प्रथम यज्ञ है' यह वैसा न करने वाले की निंदा का वचन है। इसे सूचित करते है कि 'यह प्रथम किये बिना अन्य अश्वमेधादि यज्ञ करने से नरकगामी बनना पड़ता है'। जिससे सम्हाल रखने की सूचना है। 'द्वादशमासाः संवत्सरः' बारह महीनों का एक वर्ष होता है यह अनुवाद वचन है; यह मात्र वस्तुस्थिति प्रस्तुत करता है। प्रस्तुतमें 'पुरुषवेदं ग्निं सर्वं' यह वचन उपर कहा वैसे पुरुष–आत्मा की स्तुति का सूचक है, परन्तु कर्म की वस्तुस्थिति का निषेधक नहीं। अन्यथा कर्म-प्रतिपादक 'पुण्यं पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन' आदि अन्य वेद–वाक्य गलत सिद्ध होंगे। इसी तरह जैसा पूर्व में कहा गया वैसे बिना कर्म अकेला पुरुष-तत्त्व कहने से पदार्थ-संगति नहीं होती।

महावीर प्रभु की इस समझाइश से अग्निभूति गौतम भी प्रतिबोधित हुये और उन्होंने ५०० विद्यार्थियों के साथ प्रभु की शरण में दीक्षा ग्रहण की।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तीसरे गणधर : वायुभूति

शरीर ही जीव है ?

दो बड़े भाई इन्द्रभूति और अग्निभूति भगवान के शिष्य बनें, ऐसा समाचार सुन कर तीसरे भाई वायुभूति और अन्य विद्वान ब्राह्मण तो ऐसा ही सोचने लगे कि 'महावीर भगवान वस्तुतः सर्वज्ञ हैं; तो हम अपनी विद्वता का गर्व क्या रक्खें ? हम भी जाएँ महावीर प्रभु के पास, और उनको वंदन कर उनकी उपासना करें। इन्द्रभूति और अग्निभूति जैसे समर्थ विद्वान् भी जिनके चरण-सेवक बने ऐसे इन त्रिभुवन जन से वंदित महापुरुष के विनय-वंदना से हम भी पापरहित बनें और अपने संशय का निवारण करें।' बस चलें ९ प्रमुख विद्वान अपने अपने परिवार के साथ प्रभु के प्रति। कैसे श्रद्धालु व तत्त्वरसिक ? 'अपने दो प्रधान अग्रणीने अगर प्रभु का शरण ले लिया, तो चलो हम भी यही करें,' यह श्रद्धा; व 'यदि सत्यतत्त्व का जीवन मिलता है' तो छोड़ो यह मिथ्या जीवन',-यह तत्त्वरसिकता।

सब से आगे अपने ५०० विद्यार्थियों के साथ वायुभूति प्रभु के पास जा खड़े हुए। उस काल में आत्मविद्या का, धर्म-शास्त्रों की विद्या का कितना प्रेम होगा कि एक एक के पास सैंकड़ों विद्यार्थी विद्याभ्यास कर रहे थे। इन ग्यारह में से प्रत्येक के पास सैंकड़ों विद्यार्थी थे, घर परिवार छोड़ कर वे लोग विद्यागुरू के साथ घूमते थे। वे विनीत और विवेकी भी ऐसे थे कि गुरू यदि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

किसी महान् की शरण में जीवन अर्पित कर दें तो वे भी उसी का अनुसरण करते थे। मानव जीवन का पराग क्या ? उसका पशुजीवन से ऊंचा आचरण कौन सा ?

संशय का कारण:—

वायुभूति भगवान के पास आये। प्रभु ने उसी प्रकार नाम–गोत्र के संबोधन से बुलाया और संशय कहा, 'हे गौतम वायुभूति ! तुम्हारे मन में संशय है कि 'यह शरीर ही जीव है ? अथवा जीव जैसी कोई भिन्न वस्तु है ?'

'विज्ञानघन एव' इस वेद पंक्ति से तुम्हें लगा कि चैतन्य तो पृथ्वी आदि पाँच भूत में से उठता है और इनके नाश से पुनः नष्ट हो जाता है। इससे सूचित होता है कि 'चैतन्य' वस्तु तो है परन्तु इन पाँच भूत का ही धर्म, यानी देह ही चेतन आत्मा है।

दूसरी ओर **"न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति; अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"** ऐसी वेद पंक्ति मिली ! इससे तो यह जानने को मिला कि शरीरधारी को प्रियाप्रिय यानी सुख-दुःख का अन्त नहीं, और शरीर रहित बने हुओं को सुख दुःख स्पर्श नहीं करते'। यह तो स्पष्ट शरीर-वासी किसी भिन्न आत्मा का विधान करती है,-ऐसा लगा। अतः आमने सामने विरोधी वस्तु मिलने से शंका उत्पन्न हुई !

शरीर-भूतसमुदाय यही जीव है इसके समर्थन में बहार देखने को मिला कि दूब के फूल, गुड़, पानी आदि मदिरा बनाने की प्रत्येक वस्तु में मद्यशक्ति दिखाई नहीं देती और इन सबके समुदाय में दिखती है, इससे पता चलता है कि मद्यशक्ति किसी भिन्न व्यक्ति की नहीं परन्तु एक समुदाय का धर्ममात्र है, कोई भिन्नवस्तु नहीं है। इस प्रकार चेतन-चैतन्य भूत–समुदाय का धर्ममात्र है, किन्तु भिन्न वस्तु नहीं।

'देह से जीव भिन्न'- इसके तर्क :—

(१) परन्तु यहाँ समझने योग्य यह है कि जो प्रत्येक का धर्म नहीं वह

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

समुदाय का धर्म कैसे बन सकता है ? रेती के एक एक कण में तेल नहीं, तो रेती एक लाख मन भी पीसने से एक तोला मात्र भी तेल निकलता है क्या ? जब कि प्रत्येक तिल में तेल है तो तिल समूह में से भी तेल निकलता है। इसी तरह मदिरा में जिस भ्रान्ति, मधुरता, एवं शीतलता का अनुभव होता है वह किसी न किसी अंश में दूब के फूल, गुड़ और पानी में क्रमशः विद्यमान है तभी इनका स्पष्ट अनुभव इनके मिश्रित समुदाय में दीखता है। अन्यथा चाहे जो वस्तुएँ मिश्रित करने से मदिरा बननी चाहिये। अतः कहो कि प्रत्येक में हो वही समुदाय में आती है।

प्र०— तो प्रत्येक भूत में चैतन्य का अंश मानेंगे।

उ०— ऐसा हो तो फिर प्रत्येक में चैतन्य दीखता क्यो नही ?

प्र०— आवृत है अतः नहीं दीखता। पंच भूत एकत्रित होने पर यह व्यक्त होता है।

उ०— इसका अर्थ तो यह हुआ कि 'भूत **अकेला** हो तब, चैतन्य का अन्य कोई आवरण तो है नहीं, अर्थात् स्वयं ही आवरण का रूप है, जिससे चैतन्य दीखता नहीं; और समूह में पुनः वही भूत व्यक्ति स्वयं व्यंजक अर्थात् प्रकट करने वाला बनता है।' किन्तु यह तो विरुद्ध है। जो आवरण, वही अभिव्यंजक (प्रकट करने वाला) ! यह कैसे हो सकता है ?

प्र०— नहीं, ऐसा नहीं है, असंयुक्त भूतव्यक्ति तो आवरणरूप है, और अभिव्यंजक के रूप में भूतों का विशिष्ट संयोग है।

उ०— भूतों का विशिष्ट संयोग तो शव में भी विद्यमान है, पर इनमें चैतन्य प्रकट नहीं है; इसका कारण ? यदि वायु या गर्मी के कारण कहो, तो ये तो इसमें भरी जा सकती हैं।

प्र०— नहीं, प्राण, उदान आदि वायु कहां से पैदा करोगे ? शव में ये नहीं अतः चैतन्य नहीं।

उ०— इसका अर्थ तो यह है कि 'प्राणादि वायु को चैतन्य-ज्ञानादि के

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नियामक कहते हो।' जब कि वस्तुस्थिति विपरीत है। चैतन्य स्वयं प्राणादि का नियमन करता है। हम देखते हैं कि प्राणायाम करने वाले स्वेच्छानुसार प्राणों की पूर्ति व रेचनादि करते हैं। सारांश यह है कि मुर्दे में चैतन्य नहीं, यह सूचित करता है कि भूत का यह सहज गुण नहीं है।

प्रश्न— तो चैतन्य को माता के चैतन्य से उत्पन्न कहें, वह भी ऐसा कि मृत्यु तक ही पहुँचे। अब क्या हानि है ?

उत्तर— इसमे बड़ी आपत्ति यह है कि मातृ-चैतन्य के संस्कार-वासनाएँ पुत्र-चैतन्य में क्यों नही आते ? माता क्रोधिनी और पुत्र शांत, या इससे विपरीत क्यों होता हैं ? शायद कहें कि थोड़ी विरासत मिलती है तो माता के शरीर में उत्पन्न होने वाली जूं-लीख में यह क्यों नहीं ? यदि कहें शुक्र-रुधिर के संयोग से उत्पन्न हो उसी से चैतन्य उत्पन्न होता है, तो फिर उसमें अल्पांश-स्थायी ही चैतन्य कहां से आया ?

यदि कहें कि 'मृत्यु तक पहुँचे ऐसा ही चैतन्य माता उत्पन्न करती है' तो प्रश्न यह है कि मृत्यु ही क्या वस्तु है ? अगर चैतन्य का नाश कहते हों, इसका मतलब यह आया कि 'चैतन्य ऐसा पैदा हुआ है कि जो नाश तक रहे।' लेकिन प्रश्न तो यह है कि चैतन्य का नाश किस कारण से ? वात-पित्तादि की विषमता से कहो, तो वह ठीक नहीं, क्योंकि मृत्यु के पश्चात् विषमता हट जाने से पुनर्जीवन की आपत्ति लगेगी ! क्यों कि विषमता के विकारभूत ज्वर, खाँसी आदि एक भी विकार मृत्यु के बाद नहीं दीखते, इससे तो मानना चाहिये कि वात-पित्तादि विषम से सम हो गए ! और 'तेषां समत्वमारोग्ये' 'आरोग्य में उसका समत्व' कहा है, तो अब तो उल्टा पुनर्जीवन होना चाहिये ! तुम ही कहते हो वातादि सम हों तो चैतन्य हो।

प्रश्न— सम वातादि वहां है ही नहीं, क्यों कि विकारों में रक्त आदि की विकृति मिटी ही नहीं, फिर पुनः चैतन्य कहां से आए ?

उत्तर— तो फिर यह कहो कि विकार क्यों न मिटे ? ये साध्य थे अथवा असाध्य ? साध्य हो तो उपचार से मिटने चाहिये। यदि कहिये असाध्य

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है तो यह कैसे ? क्या असाध्यता (१) वैद्य के अभाव में ? (२) या औषधि के अभाव में ? अथवा (३) आयु के क्षय के कारण ?

(१) वैद्य के अभाव में नहीं, क्यों कि वैद्य होते हुए भी कई मरते हैं । (२) इसी प्रकार औषधि की कमी से भी नही, क्यों कि इसी औषधि से पूर्व में नीरोगिता की प्राप्ति हो चुकी है । (३) आयु के क्षय से कहो, तो यह आयुष्य-कर्म कहां से आया ? एक ही माता के दो पुत्रों की मृत्यु में अन्तर होता है, दूसरा पता चलता है कि आयुष्य चैतन्यात्मक देह का धर्म नहीं । तो कहना चाहिये कि आत्मा ही पूर्व भव से ऐसा कर्म लेकर आई है, जो पूर्ण होते ही आत्मा का संबंध छूट गया, जिससे मुर्दे में चैतन्य नही दीखता । तात्पर्य यह है कि चैतन्य भूत का धर्म नहीं है । 'घड़े आदि भूत समूह में अथवा मुर्दे के भूत-पंचक में विशिष्ट संयोग नहीं, अगर निकल गई है, अतः चैतन्य नहीं' –ऐसा यदि कहते हो तो इसमें भी 'विशिष्ट' का अर्थ तो यही कि आत्मा निकल चुकी है ।

प्रश्न— चैतन्य शरीर का धर्म दीखता है इसे इसका धर्म नहीं और अन्य का कहना यह 'घड़े का दीखता लाल वर्ण घड़े का नहीं पर अन्य का' –ऐसी मान्यता जैसा क्या प्रत्यक्ष-विरुद्ध नहीं लगता ?

उत्तर— मात्र प्रत्यक्ष को क्या करे ? भूमि में से निकलता हुआ अंकुर भूमि का दिखाई पड़ने पर भी थोड़े ही भूमि का धर्म माना जाता है ? यह तो बीज का धर्म है, अन्यथा बिना बीज के यह क्यों नहीं निकलता दीखता ?

(१) वैसे ही बिना जीव उसी शरीर में चैतन्य न होने से, चैतन्य शरीर का नहीं किन्तु जीव का ही धर्म है । जहां प्रत्यक्ष का बाधक अनुमान प्रमाण मिलता है वहां प्रत्यक्ष-विरोध नगण्य बन जाता है । आज प्रातः से खाया नहीं, और दुपहर को पेट में दर्द हुआ, फिर भी यह दर्द आज के प्रत्यक्ष भूखे रहने से नहीं हुआ परन्तु अगले दिन अधिक ठूंस कर खाने से हुआ है । यहां आत्मा का साधक अनुमान मिलता है जो प्रत्यक्ष-विरोध को अकिंचित्कर सिद्ध करता है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२) **इन्द्रिय भिन्न आत्मा का साधक अनुमान यह, कि** जो जिसकी प्रवृत्ति बंद होने के पश्चात् भी स्मरण-प्रवृत्ति करे, वह उससे भिन्न वस्तु होती है। जैसे – मकान के पांच झरोंखों में से देखने के पश्चात् झरोखे बंद होने पर भी, स्मरण-कर्ता भिन्न व्यक्ति है। जैसे झरोखा स्वयं द्रष्टा नहीं है उसी तरह इन्द्रियां भी स्वयं द्रष्टा नहीं हैं; क्यों कि

(३) इन्द्रियां स्वयं कार्यव्यस्त न होने पर भी, कभी मन अन्यत्र जाने पर अथवा शून्य होने पर, नहीं दीखतीं।

(४) इन्दिय व्यापार बन्द होने पर भी देखी हुई वस्तु का स्मरण होता है।

(५) इन्द्रियों के द्वारा देखे जाने के पश्चात् चिंतन, विकार, आतुरता अथवा अस्वीकृति आदि संवेदनों का अनुभव करने वाला अन्दर बैठा हुआ कोई और ही हैं।

इससे सूचित होता है कि गवाक्ष की भांति भूतमय इन्द्रियां ही आत्मा नहीं हैं, आत्मा तो इन सब साधनभूत पदार्थों का उपयोग करने वाली एक भिन्न व्यक्ति है।

(६) जिस तरह किसी को कोई एक गवाक्ष से देख कर दूसरे गवाक्ष में बुलाए, वहां इन दोनों गवाक्षों के पास एकीकरण का सामर्थ्य नहीं। अतः एकीकरणकर्ता भिन्न व्यक्ति माना जाता है, ठीक इसी तरह आंख से किसी को खट्टा आम खाते देखकर जीभ अथवा दांत खट्टे होने का अनुभव होता है, तो उन दोनों इन्द्रियों का सम्मीलित अनुभव करने वाला कोई भिन्न व्यक्ति ही होता है।

(७) जैसे किन्ही पांच व्यक्तियों में प्रत्येक को एक एक अलग अलग विषय का ज्ञान हुआ, एक का जो ज्ञान हो वह दूसरे को न हो, फिर भी छठा कोई ऐसा हो कि जिसे इन पांचों का ज्ञान हो, तो वह उन पांचों से भिन्न है, बस इसी तरह पांचों इन्द्रियों से दृष्ट पांचों विषयों का स्मरण कर सकने वाली आत्मा कोई भिन्न ही व्यक्ति होनी चाहिये। ध्यान में रहे कि 'तब क्या यहां

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इन्द्रिय को एक एक ज्ञान भी हो सकता है ? ऐसा प्रश्न उठे, किन्तु ऐसी आपत्ति नहीं, क्यों कि स्वेच्छा से वे इन्द्रियां कुछ भी नहीं कर सकती । आत्मा इसमें मन लगावे तभी इससे ज्ञान होता है ।

(८-९-१०-११) ज्ञान ज्ञानपूर्वक होता है यह नियम है तो इस शरीर में होने वाला प्रथम ज्ञान ज्ञानपूर्वक होना चाहिये । इस पूर्वज्ञान का स्वामी आत्मा । वैसे इच्छा में, ऐसे ही देह में; इस प्रकार सुख-दुःख, राग द्वेष, भय-शोकादि में; कि यह किसी भी इच्छा-देह-सुखदुःखादि इच्छा-देह-सुखदुःखादि-पूर्वक ही है । उन पूर्व का अनुभव करने वाला जीव ही हो सकता है ।

(१२) देह और कर्म का बीजांकुर की भांति अनादि प्रवाह चला आ रहा है; यह कर्ता (भिन्न जीव) के बिना नहीं हो सकता ।

(१३) दंड से बनने वाले घड़े के लिये दंड कर्ता नही, करण है, वैसे शरीर से होने वाली क्रिया के लिये शरीर स्वयं कर्ता नहीं परन्तु करण है, साधन है । घड़े के कर्ता कुम्हार की भाँति यहाँ कर्ता आत्मा है ।

(१४-१८) प्रथम गणधर में जैसा कहा गया है, वैसे (i) घर की भाँति निश्चित (अमुक ही) आकार वाले शरीर का कर्ता चाहिये । (ii) गंदे वस्त्र को उज्जवल बनाना, रंगना, उस पर प्रसन्न होना, आदि की भाँति शरीर को उज्जवल करना, सुशोभित करना इत्यादि शरीर का भोक्ता और ममत्व-कर्ता खुद शरीर नहीं, कोई और होना चाहिये । (iii) खंभे, खिड़की, दरवाजे की भाँति हाथ पांव सिर आदि की सुरक्षा चाहने वाला कौन ? शरीर नहीं, क्यों कि यह तो समूचे घर की भांति अंगों का समूह मात्र है । (iv) लोहे और संडासी की भांति विषयों और इन्द्रियों के बीच ग्राह्य - ग्राहक भाव होने के लिये स्वतंत्रेच्छ कुम्हार की भांति आत्मा चाहिये । (v) जो अन्य देश-काल का अनुभव किया हुआ याद करे, वह अविनष्ट होता है । इसी तरह अन्य द्वारा अनुभूत अन्य को याद नहीं आता । अतः पूर्व देह नष्ट होते हुए भी नये शरीर से जो पूर्व देह में अनुभूत का स्मरण करने में समर्थ है वह शरीर से भिन्न आत्मा ही है ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

क्षणिकवाद उचित कैसे नहीं ?

प्रश्न— क्षण-परम्परा में संस्कार उतर आने से स्मरण होता है न ? एक नित्य आत्मा की क्या आवश्यकता ?

उत्तर—परम्परा में भी एक ओतप्रोत व्यक्ति चाहिये, जो संस्कार को टिकाने के लिये आधार हो, अन्यथा ज्ञान और संस्कार सर्वथा नष्ट होने के पश्चात् ठीक वैसा ही स्मरण नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त—

(१९) जगत के सभी पदार्थों को क्षणिक रूप में देखे बिना 'जो कुछ सत् है वह क्षणिक है' ऐसा कौन जान सकता हैं ? इसी तरह स्वयं ही अगर क्षण मात्र रह कर पश्चात् नष्ट हो, तो स्वयं को, अतीत-भावी का, स्वयं के साथ कोई सम्बन्ध न होने से, 'अतीत काल में क्या हुआ था भविष्य में क्या होगा इसका कैसे पता चले ? तात्पर्य यह है कि द्रष्टा ज्ञाता एक अविनाशी आत्मा होनी चाहिये।

प्रश्न— 'अपने जैसे सब', इस प्रकार सब को क्षणिक रूप से जान सके न ?

उत्तर— इस प्रकार भी जानने के लिये, पहिले सब में अपने जैसा सत्पन जानना चाहिये। (अन्यथा असत् भी क्षणिक सिद्ध होगा ! 'भले हो,' कहना नहीं, क्षणिक यानी क्षण में नाश; असत् का फिर नाश क्या ?) तभी 'वे सब सत् होने से क्षणिक है' ऐसा जाना जाए न ? किंतु यह सत्पन पहिले जानने जाए इतने में तो स्वयं नष्ट है, तो इस पर से सर्व क्षणिक कौन जाने ? वास्तव में तो 'क्षण बाद में नष्ट हूँ' ऐसा स्वयं अपना भी कैसे जाने यदि स्वयं ही क्षण भर बाद टिकता नही ? 'संस्कार से संस्कारित जान सकता है,' पर तब भी (i) संस्कार और संस्कारित एक साथ विद्यमान होने चाहिये, तथा (ii) संस्कार स्थायी अर्थात् अक्षणिक होने चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक अविनाशी आत्मा मानो तो ही यह सब घटित हो सकता है।

(२०) वेद में कथित दानादि के फल भी, देह से अगर भिन्न आत्मा हो, तभी घटित हो सकते है। 'तब देह में प्रविष्ट होती अथवा देह से

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

निकली हुई यह क्यों नहीं दिखाई देती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्व-कथित सूक्ष्मतादि के कारण वस्तु होती हुई भी अदृश्य रहती है ।

(२१) इस प्रकार पूर्व-कथित योग-उपयोग-इच्छा-रागादि व आंतरिक सुख-दुःखादि संवेदन ये सब देह की हानि वृद्धि से घटते बढ़ते हों-ऐसा नियम नहीं है । इससे पता चलता है कि ये धर्म देह के नहीं है, परन्तु भिन्न आत्मा के हैं । पूर्व जन्म का स्मरण, देह की अपेक्षा आत्मा के भिन्न शब्द पर्याय, प्रसंग-वश सबसे अधिक प्रिय आत्मा के लिए देह का भी त्याग, इत्यादि हेतु भी भिन्न आत्मा को सिद्ध करते हैं ।

भगवान के इस प्रकार समझाने से वायुभूति की शंका नष्ट हो गई, और उन्होंने भी अपने ५०० विद्यार्थियों सहित प्रभु के पास चारित्र-ग्रहण किया ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

चौथे गणधर–व्यक्त

पंचभूत सत् हैं ?

अब चौथे व्यक्त नामक ब्राह्मण प्रभु के पास आए। प्रभु ने इनके मन का संदेह कहा कि 'स्वप्नोपमं वै जगत्' इत्यादि वेद पंक्ति से तुम्हें हुआ कि जगत्–मान्य पंचभूत स्वप्नवत् मिथ्या हैं, अर्थात् सत् नहीं; और दूसरी ओर 'पृथ्वी देवता, आपो देवता....' आदि वचन से देवतारूप भूत सत् होने का लगा, इससे शंका हुई कि 'पंचभूत सत् होंगे अथवा असत् ?' दृश्य भूत में भी संदेह होता है तो फिर आत्मा का तो पूछना ही क्या ? अर्थात् क्या सभी शून्य ही है ?

सब असत् होने में यह तर्क प्राप्त हुआ:—

'सर्वं शून्यं' का तर्क; – वस्तु असत् है; क्योंकि—

(१) वस्तु परस्पर सापेक्ष है।

(२) इसमें सत्व का संबंध अघटित है।

(३) इसकी उत्पत्ति अघटित है।

(४) इसकी उत्पादक सामग्री अघटित है।

(५) इसका प्रत्यक्ष अघटित है।

(१) वस्तु की सिद्धि सापेक्ष है; क्योंकि सत् वस्तु स्वतः या परतः अथवा स्व पर उभयतः सिद्ध होती है। अब वस्तु चाहे कारणरूप हो अथवा

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कार्यरूप हो सकती है। इसका कोई कार्य हो तो वह कारण कहलाये; परन्तु प्रथम यह कारण स्वरूप सिद्ध हो, तभी उसे कार्य कहें न ? कारण स्वयं सिद्ध नहीं होता, तो इस पर अवलम्बित कार्य भी कहां से सिद्ध हों ? इसी तरह कार्य भी स्वतः सिद्ध नहीं, अतः उस पर आधारित कारण भी कैसे सिद्ध हो ? इस प्रकार ह्रस्व–दीर्घ, दूर–नजदीक, पिता–पुत्र आदि भी परस्पर सिद्ध होने पर सिद्ध होते हैं। बीच की अंगुली बड़ी सिद्ध हो तो पहली अंगुली छोटी सिद्ध होती है और यदि पहली अंगुली छोटी सिद्ध हो तो बीच की अंगुली बड़ी सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ परस्पर सापेक्ष होने से स्वतः सिद्ध नहीं तो परतः भी सिद्ध नहीं। इसीलिए स्वतः परतः उभय से सिद्ध कैसे हो ?

(२) घटादि वस्तु में सत्–सत्व–अस्तित्व वस्तु से अभिन्न अथवा भिन्न ? (i) यदि अभिन्न, तो 'जो जो अस्ति वह वह घट' ऐसा आया अर्थात् सभी पदार्थ घटरूप बनेंगे। परन्तु फिर घड़ा भी सिद्ध नहीं। क्योंकि कोई अघट हो तो इसे घट कहें न ? अर्थात् सभी असत् है।(ii) यदि सत् वस्तुसे भिन्न, तो वस्तु स्वयं सत् स्वरूप नहीं रहो ! असत् ही बनी। इस प्रकार अघट सिद्ध हुए बिना 'घट' शब्द से अभिलाप्य (अभिधेय) भी कैसे बन सकता है ? अर्थात् सत् की भांति अभिलाप्य भी कुछ नहीं। तात्पर्य यह है कि **वस्तु और सत्व का सम्बन्ध घटित न होने से सब शून्य है।**

(३) इसी तरह (i) उत्पन्न वस्तु उत्पन्न होती है ? अथवा (ii) अनुत्पन्न वस्तु उत्पन्न होती है ? या (iii) उभय अर्थात् उत्पन्न–अनुत्पन्न उत्पन्न होती है ?

(i) प्रथम नहीं, क्योंकि उत्पन्न को पुनः उत्पन्न करने का परिश्रम व्यर्थ होता है। उत्पन्न तो है ही, फिर भी उत्पन्न होता हो तो अनवस्था, अर्थात् उत्पन्न होता ही रहे ! (ii) जब कि अनुत्पन्न, तो अश्वशृंग जैसे कहलाता है; यह उत्पन्न हो ही नहीं सकता। (iii) तीसरा भी नहीं, क्योंकि प्रत्येक पक्ष का दोष उभय पक्ष में लगता है। फिर उभय भी कोई वस्तु है या नही ? यदि है, तो उत्पन्न ही हो, उभय कैसे ? यदि नहीं तो अनुत्पन्न ही हो, उभय कैसे ? (iv) 'उत्पद्यमान जन्म लेती है' ऐसा कहते हो तो उत्पद्यमान भी है कि नहीं ? इसमें

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तृतीय विकल्प जैसा दोष है। सारांश यह है कि **उत्पत्ति असंभवित, अतः वस्तु असत्।**

(४) वस्तु उपादान और निमित्त कारणों की सामग्री से बनती दिखाई देती है, अर्थात् सब सामग्रीमय दिखाई देता है। परन्तु जहां 'सर्व' जैसा कुछ है ही नहीं, तो सामग्री कैसी? एवं यदि इन प्रत्येक में जनन-सामर्थ्य नहीं, तो समस्त सामग्री में कैसे हो? अर्थात् जनन-सामर्थ्य-विहीनों के समूह में भी कारण-सामग्रीपन कैसे घटित हो सकता है? समूह में इस दृष्टान्त से जनन-सामर्थ्य नहीं है कि बालू के प्रत्येक कण में तेल नहीं तो समूह में भी नहीं। और अगर प्रत्येक कारण में सामर्थ्य हो तो एक एक से भी कार्य होना चाहिए। इस प्रकार **उत्पादक सकल सामग्री के असंभव से वस्तु असत्।**

(५) एवं कोई वस्तु अदृश्य तो है ही नहीं, क्योंकि दिखाई नहीं देती। तो दृश्य भी नहीं, क्योंकि जो दिखाई देता है वह वस्तु का पिछला नहीं परन्तु ऊपर का ही अथवा अगला ही भाग होता है। यह भाग भी सावयव होने से इसमें भी ऊपरी अथवा अग्रभाग ही दिखाई देता है। इसमें भी इसी प्रकार... यावत् बिल्कुल ऊपरी अथवा अग्रिम परमाणु-पहलु आता है और परमाणु तो अदृश्य कहते हो। इस प्रकार **सर्व अदृश्य! अतः सर्व शून्य है।**

अब इसका उत्तर देते हैं।

'सर्वं शून्यं' का खंडन

(१) प्रथम तो, अगर सभी वस्तुएं असत् ही होती हों तो 'पचभूत हैं या क्या?' ऐसा संदेह ही क्यों होता है? क्योंकि असत् अश्वशृंगादि में संदेह नहीं होता कि 'यह अश्वशृंग है अथवा गर्दभशृंग?' और संदेह सत् ही में होता है, जैसे 'यह ठूंठ है अथवा मानव?' किन्तु असत् में नहीं, ऐसा भेद क्यों? अतः कहो कि जिसमें संदेह होता है, वह सत् सिद्ध होती है। अन्यथा विपरीत क्यों नहीं? जैसे कि असत् में ही सदेह की अनुभूति होती है, सत् में नहीं! ऐसा क्यों नहीं?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२) यदि सभी शून्य हों, तो संदेह स्वयं भी असत् सिद्ध होता है।

(३) संदेह भ्रमादि ज्ञान के पर्याय हैं, वे ज्ञेय से ही संबद्ध होता है। सर्व-शून्य में तो ज्ञेय क्या और अज्ञेय क्या ?

प्र०—स्वप्न में वस्तु कुछ भी नहीं फिर भी संदेह होता है न ?

(४) उ०— स्वप्न में भी पूर्वदृष्ट अनुभूत अथवा श्रुत पर ही संदेह होता है। अतः स्वप्न में भी संदेह का निमित्त सत् है। स्वप्न स्वयं भी ज्ञानरूप होने से सनिमित्तक ही होता है। सर्व शून्य में तो स्वप्न भी किस पर ?

(५) सर्व शून्य में निम्नलिखित भेद क्यों होते हैं ?:—

१. एक स्वप्न, दूसरा अस्वप्न २. एक सत्य दूसरा असत्य ३. एक सच्चा नगर, दूसरा मायानगर ४. एक मुख्य दूसरा औपचारिक ५. एक कार्य दूसरा कारण व कर्ता ६. एक साध्य, दूसरा साधन ७. एक वक्ता, वाच्य, दूसरा वचन ८. एक स्वपक्ष, दूसरा परपक्ष ९. एक गुरु, अन्य शिष्य १०. एक इन्द्रियां ग्राहक, दूसरा शब्दादि ग्राह्य ११. एक ऊष्ण दूसरा शीत १२. एक मधुर दूसरा कड़वा १३. पृथ्वी स्थिर, पानी प्रवाही, अग्नि उष्ण, वायु—चल आदि नियत स्वभाव क्यों ?

सभी समान, जैसे कि सभी स्वप्न ही या सभी सत्य हो क्यों नहीं ? व्यवहार से विपरीत ही क्यों नहीं ? या यदि सभी असत् तो भिन्न भिन्न रूप से ज्ञान ही कैसे हो ?

प्र०—मृगजल की भांति इसका ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु वह सच्चा नहीं। एक स्वप्न दूसरा अस्वप्न, आदि ज्ञान भ्रम रूप है।

उ०—निश्चित अमुक प्रकार के ही देश-काल—स्वभावादि के साथ संबद्ध रूप में विषय का ज्ञान होने से इसे भ्रम नहीं कह सकते, जैसे कि, यहां तो चांदी है और वहां चांदी नहीं कलई है। कल वाला घड़ा अभी नहीं है। ... इत्यादि सच्चे ज्ञान।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(६) भ्रम भी स्वयं सत् है अथवा असत् ? यदि भ्रम सत् है तो उतना सत् होने से 'सब शून्य असत्' इस सिद्धान्त का भंग हो गया ! अगर भ्रम असत् है तो 'यह स्वप्न, यह अस्वप्न' इसका विषय सत् ही हुआ ! भ्रान्ति को असत् स्वरूप जानने वाला ज्ञान सत् सिद्ध होगा। इस प्रकार शून्यता सत् अथवा असत् ? यहां भी यही आपत्ति।

(७) शून्यता प्रमाण से सिद्ध करनी होती है। अब वहां लगाया प्रमाण यदि सत् तो उतना सत् रहने से सर्व–शून्यता नहीं; प्रमाण यदि असत् तो वैसे प्रमाण से शून्यता सिद्ध नहीं होगी।

अब पूर्व पक्ष के प्रथम पांच विकल्पों की समीक्षा करें :—

(१) पहिले मानना कि 'वस्तु की सिद्धि सापेक्ष है' और फिर कहना कि 'सिद्धि किसी से नहीं', तो यह तो परस्पर विरोधी भाषण है। अगर कहें 'यह तो परमत की अपेक्षा सापेक्ष हैं' तो पर और परमत तो मान ही लिया ! वे ही सत् ठहरेंगे, शून्य नहीं।

(२) 'बीच की अंगुली बड़ी, पहली छोटी' इस प्रकार एक साथ प्रथम तो ह्रस्व–दीर्घ की बुद्धि करना, और फिर कहना कि 'बड़ी छोटी वस्तु सापेक्ष होने से असिद्ध है, असत् है,' यह असंगत है।

(३) दरअसल वस्तु में सत्त्व सापेक्ष ही नहीं; क्योंकि सत्त्व अर्थक्रिया-कारित्व रूप है। अर्थ–क्रिया=पदार्थ की उत्पत्ति–क्रिया, अर्थात् कार्योत्पत्ति। यदि ह्रस्व दीर्घ आदि पदार्थ स्वकीय ज्ञानरूप कार्य कराते हैं तो वे अर्थक्रिया–कारी होने से सत् हैं। यदि सर्वथा असत् हों तो ज्ञानात्मक कार्य नहीं करवा सकते।

(४) छोटी अंगुली पहली कही जाती है वह मध्य की अपेक्षा, असत् आकाशकुसुम की अपेक्षा से नहीं। अथवा दीर्घ की अपेक्षा से पहली अंगुली ह्रस्व है, किन्तु आकाशकुसुम ह्रस्व नहीं। इससे सूचित होता है कि मध्य व प्रथम अंगुली सत् है। इतना ही नहीं, परन्तु—

(५) वस्तु अनंत धर्मात्मक होने से उसमें ह्रस्वत्वादि भी सत् हैं, जो मात्र तदनुकूल सहकारी मिलने पर अभिव्यक्त होते हैं। यदि ह्रस्वत्व सत् न हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कर भी अपेक्षामात्र से ऐसा ज्ञान होता हो तो बीच की दीर्घ में ही स्वापेक्षया ह्रस्वत्व का ज्ञान क्यों नहीं होता है ? तब यही कहना पड़ता है कि इसमें स्वापेक्षया ह्रस्वत्व है ही नहीं, तो उसका ज्ञान कहां से हो ?' अर्थात् ह्रस्वत्व सत् है और वह स्वापेक्षया से नहीं किन्तु अन्य दीर्घ वस्तु की अपेक्षा से यह सिद्ध होगा।

(६) कहते हो 'ह्रस्व–दीर्घ का सापेक्ष ज्ञान होता है'; तो उन दोनों का ज्ञान क्या एक साथ होता है ? अथवा क्रमिक ? एक साथ कहते हो तो परस्पर अपेक्षा कहाँ रही ? अपेक्षा का मतलब तो यह है कि जिसकी अपेक्षा हो वह पहले आना चाहिये। यहां तो एक साथ ज्ञान होने की बात है तो अपेक्षा कहाँ रही ? यहि कहते हो कि क्रमशः होता है, तो दो में प्रथम जो ह्रस्व का अथवा दीर्घ का ज्ञान होगा वह तो अन्य दीर्घ की अथवा ह्रस्व की अपेक्षा बिना ही हुआ गिना जायगा। इससे तो यह वस्तु अपेक्षा से नहीं किन्तु स्वतः सिद्ध रही ! अनुभव भी ऐसा है कि चक्षु–संयोगादि सामग्री रहने पर घड़े आदि वस्तु का वैयक्तिक रूप से स्वतः ज्ञान होता है। यह ज्ञान पर की अपेक्षा बिना ही होने का अनुभव सिद्ध है। बालक को जन्म लेते ही प्रथम ज्ञान ऐसा बिना अपेक्षा के ही होगा। अतः सिद्धि अर्थात् ज्ञान, यह सापेक्ष ही होने का नियम गलत है। अन्यथा परस्पर ह्रस्व–दीर्घ न हो, परन्तु तुल्य ही हो उन बिचारे का तो ज्ञान ही कैसे बने ? दो आंखों की भांति इन दो में परस्पर क्या अपेक्षा ?

(७) अतः कहो कि वस्तु में सापेक्ष निरपेक्ष दो प्रकार के स्वरूप हैं; इन में सत्ता–सत्व, रूप, रस आदि निरपेक्ष स्वरूप हैं। इस प्रकार वस्तु स्वतः सिद्ध, स्वतन्त्र ज्ञेय है, इसका परनिरपेक्ष स्वतः ज्ञान होता है। फिर जिज्ञासा वश प्रतिपक्ष के स्मरण से ह्रस्व दीर्घादि सापेक्ष रूप में जाने जाते हैं। इस प्रकार जहां वैसे निरपेक्ष ज्ञान से और निरपेक्ष व्यवहार से सत्तादि स्वरूप स्वतः सिद्ध हों वहां सर्व शून्य कहाँ रहा ?

(८) अगर सत्ता स्वतः सिद्ध न हो तो ह्रस्व वस्तु की सत्ता भी परसापेक्ष ही होगी। इससे तो जब ज्ञान में पर दीर्घ की अपेक्षा न रही जैसे कि 'यह अंगुली है' इतना ही ज्ञान किया तब ह्रस्वसत्ता नष्ट ! यह नष्ट, तो दीर्घसत्ता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी तत्सापेक्ष होने से नष्ट ! अर्थात् सर्व नष्ट ! परन्तु ऐसा दीखता नहीं है। अपेक्षा रहित काल में भी ह्रस्व अथवा दीर्घ वस्तु तो यथावत् विद्यमान ही है और दीखती ही है। इससे स्वतः सिद्ध सत्ता की सिद्धि होती है।

(९) सब असत् हो तो ह्रस्व दीर्घ की अपेक्षा भी असत् ठहरेगी ! तो व्यवहार कैसे चले ?

प्र०—ऐसा स्वभाव है कि 'अपेक्षा से ह्रस्व दीर्घ व्यवहार होता है' स्वभाव में प्रश्न नहीं हो सकता।

उ०—अच्छा। तब तो यह स्वभाव अर्थात् 'स्व का भाव पर का नहीं' इससे स्वभाव, स्व, पर, ऐसा अलग अलग स्वीकार करने से वे सत् होंगे ! फलतः सर्व शून्यता का भंग !

(१०) अपेक्षा रखने की क्रिया, अपेक्षा करने वाला पुरुष, और अपेक्षणीय कर्म, अपेक्षणीय विषय, ये यदि असत् हों तो प्रति व्यक्ति नियत विशेष ही न रहें कि 'यह तो पुरुष है, विषय नहीं'। अगर सत् हो तो सर्वशून्यता का भंग।

सारांश, जगत में वस्तु ४ प्रकार की होती है :— १. **स्वतः सिद्ध,** बिना कर्ता के बनने वाले मेघादि विशिष्ट परिणाम। २. **परतः सिद्ध,**—कुम्हार आदि से बनने वाला घड़ा आदि। ३. **उभयतः सिद्ध,**—माता पिता और स्वकर्म से होने वाले पुत्रादि; तथा ४. **नित्य सिद्ध,** आकाशादि। यह 'सिद्ध' अर्थात् उत्पत्ति की दृष्टि से। ज्ञान की दृष्टि से सिद्ध जैसे कि घड़ा स्वतः सिद्ध है; व ह्रस्व-दीर्घत्वादि परतः सिद्ध अर्थात् परतः ज्ञात है। सर्व शून्य में यह व्यवस्था घटित नहीं होती।

(२) वस्तु और अस्तित्व का सम्बन्ध—

(१) प्रथम तो 'घड़ा है, अस्ति,' पर 'नहीं ऐसा नहीं' इस प्रकार घड़े को अस्ति रूप में स्वीकार कर फिर पूछते हों कि 'घड़े और अस्तित्व का सम्बन्ध क्या ? इससे दोनों की शून्यता असत्पन की सिद्धि नहीं होती। अन्यथा असत् खर—शृंगादि में यह प्रश्न क्यों नहीं ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२) घट को शून्य (असत्) कहते हो इसमें भी ऐसा ही प्रश्न होगा। घड़ा और असत्त्व यदि (१) एक हो तो घड़ा ही आया, भिन्न असत्ता-शून्यता जैसी कोई चीज सिद्ध नहीं हुई; (२) भिन्न कहो तो भिन्न असत्ता जैसी कोई वस्तु दिखाई नहीं देती अतः असिद्ध।

(२) तुम शून्यतावादी हो, तो शून्यता को जानते-बोलते हुए तुम्हारा ज्ञान और वचन तुम से भिन्न है ? अथवा अभिन्न ! अभिन्न कहते हो तो अभिन्न वृक्षत्व आम्रत्व की भांति तुमसे अभिन्न ज्ञान-वचन का अस्तित्व सिद्ध हुआ। भिन्न कहते हो तो तुम्हारे से ज्ञान भिन्न होने से तुम अज्ञानी और वचन भिन्न होने से तुम गूंगे शून्यता को क्या सिद्ध कर सकोगे ?

(४) घड़ा और अस्तित्व में अस्तित्व घड़े का धर्म है, यह घड़े से अभिन्न और वस्त्रादि से भिन्न है। वस्त्रादि का अस्तित्व अलग अलग है वहां सब के एकत्व की कहां आपत्ति है ? वस्तु की सत्ता भिन्न-भिन्न है, अतः 'जो जो अस्ति वह-वह घड़ा' यह नियम गलत है। अगर पूछिये-'क्या है ? घट या अघट?' तो कहेंगे 'घट'। 'घड़ा क्या ?' तो 'अस्ति'। जैसे 'क्या है ? आम्र या अन्य' तो कहेंगे आम्र। 'आम्र क्या ? वृक्ष या अन्य ? तो 'वृक्ष'। भिन्न भिन्न अस्तित्व आया।

(३) **उत्पन्न आदि चार विकल्पों से उत्पन्न में अ-नियम —**

(१) प्रथम तो 'उत्पन्न, अनुत्पन्न, उभय अथवा उत्पद्यमान जन्म लेता है ?' ये जो चार विकल्प तुम उठाते हो वे उत्पन्न वस्तु को लेकर ? अथवा अनुत्पन्न को ? प्रथम अवस्था में, विकल्प निरर्थक है। उत्पन्न को ले कर अब क्या पूछना कि यदि उत्पन्न हो तो अब कैसे बने ? तब यदि कहते हो कि अनुत्पन्न को लेकर विकल्प करते हैं तो अनुत्पन्न गगनपुष्प में विकल्प क्यों नहीं उठाते ?

(२) घड़ा आदि वस्तु यदि सर्वथा उत्पन्न ही न होती हो, तो यह कुम्हारादि निमित्त मिलने से पहिले नहीं, और पीछे क्यों दिखाई देती है ? इसी तरह कालान्तर में दंड-प्रहारादि के बाद में क्यों नहीं दिखाई देती ? आकाशकुसुमवत् अनुत्पन्न ही हो तो सदा अदर्शन अदर्शन ही रहे।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(३) शून्यता का विज्ञान व वचन सर्वथा अनुत्पन्न हो तो शून्यता किसने प्रकाशित की ?

(४) वस्तु स्थिति यह है कि—(i) नया होने वाला घड़ा विवक्षा से कुछ उत्पन्न, कुछ अनुत्पन्न, उभय भी और कुछ उत्पद्यमान जन्म लेता है। घड़ा मिट्टी के रूप में पहिले उत्पन्न रह कर जन्मता है और विशिष्ट आकृति के रूप में पहिले अनुत्पन्न रह कर जन्म लेता है; क्योंकि मिट्टी रूप व तुम्बाकार आकृति से घड़ा अभिन्न है। मिट्टी रूप से पहिले है अतः घड़ा है ही। वहां आकृति नहीं तो इस रूप में तब घड़ा नहीं। रूप, आकृति उभय अपेक्षा से उत्पन्न–अनुत्पन्न है; और वर्तमान समय की अपेक्षा से उत्पद्यमान उत्पन्न है; अन्यथा क्रिया निष्फल जाए।

(ii) जब कि पूर्व उत्पन्न हो चुका घड़ा अब घटरूप में चारों विकल्पों से अर्थात् उत्पन्न, अनुत्पन्न, उभय अथवा उत्पद्यमान नहीं होता, क्योंकि स्व द्रव्य घटरूप से या स्वपर्याय लाल, बड़ा, हल्का इत्यादि रूप से तो हो ही चुका है, तो बनने का क्या ? और परद्रव्य पटादि स्वरूप से या पर पर्याय से कभी भी नहीं हो सकता; अन्यथा पररूप ही हो जाये। सारांश, उत्पन्न हो चुके घडे आदि के संबंध में अब उत्पन्न का प्रश्न फजूल है। वैसे यह पूछना भी फजूल है कि उत्पन्न वस्तु, अनुत्पन्न, उभय अथवा वर्तमान समय में उत्पद्यमान है या नहीं ? और उत्पद्यमान के लिए वे ही चार प्रश्न यदि करें तो हम कहेंगे कि वह पर-रूप में उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सदा विद्यमान आकाश तो आकाश रूप में चारों में से एक भी विकल्प से उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार अनुत्पन्न भी घट स्व द्रव्यरूप में सदा अवस्थित है। इसलिए वह उस रूप में नया उत्पन्न होने का नहीं।

यह तो मूल स्व द्रव्यरूप में घट-आकाश की बात हुई। पर्याय–चिन्ता में, परपर्याय–रूप में चारों विकल्पों से कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। स्वपर्याय में भी जो उत्पन्न हो चुका है वह उसी स्व–पर्याय रूप में भी अब नया उत्पन्न नहीं होता है; और अनुत्पन्न स्व पर्यायरूप में उत्पन्न हो सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) उत्पादक सामग्री घटित हो सकती है:—

(१) 'सर्व ही नहीं होने से सामग्री जैसा कुछ भी है नहीं' यह आपका कथन बाधित है, क्यों कि पहले तो यह कथन स्वयं ही कंठ–ओष्ठ–तालु आदि सामग्री से हुआ प्रत्यक्ष दीखता है: तब सामग्री जैसा कुछ नहीं है यह कहां रहा ?

प्र०–यह तो अविद्यावशात् दीखता है क्योंकि कहा है—

काम–स्वप्न–भयोन्मादैरविद्योपप्लवात् तथा ।
पश्यन्त्यसन्तमप्यर्थं जनः केशेन्दुकादिवत् ।।

काम–प्राबल्य, स्वप्न, भय, उन्माद और अविद्या (मतिभ्रम) से लोग आंख के आगे केश तंतु की भांति असत् भी वस्तु देखते है ।

उ०–यदि सभी सामग्री असत् होकर ही दीखती हो, तो कछुए के रोम की, गधे के सींग इत्यादि की, सामग्री क्यों नहीं दीखती ? असत् है वास्ते न ? अतः कहिये जो सामग्री दिखती है यह सत् है ।

(२) छाती, मस्तक, कंठ आदि सामग्रीमय वक्ताव शब्दमय वचन और प्रतिपाद्य विषय है या नहीं ? यदि है, तो सर्व शून्य कहां रहा ? यदि नही तो 'सर्व शून्य' किसने सुना ? इसी तरह प्रतिपाद्य विषय बिना का कथन वंध्या माता जैसा है । माता का अर्थ ही है पुत्रवती; वह वंध्या कैसी ? कथन अर्थात् जो कुछ कहना है, यह कथनीय रहित ?

(३) प्र०–वक्ता, वचन, कुछ भी सत् है ही नहीं, इसीलिए वाच्यवस्तु नहीं । यही सर्व शून्यता बन सके न ?

उ०–कुछ नहीं । यह बताइये कि ऐसा कहने वाला वचन सत्य या मिथ्या ? यदि सत्य, तो यही सत् ! यदि मिथ्या तो वह अप्रमाण होने से इससे कथित सर्व–शून्यता असिद्ध ठहरती है ।

(४) यदि कहते हो 'चाहे जैसे हमने यह वचन स्वीकार कर लिया है' तो यह स्वीकार सत्य अथवा मिथ्या ? अपरंच सर्व शून्यता में तो स्वीकारकर्ता स्वीकार, स्वीकार्य तत्त्व इत्यादि भी क्या ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(५) यदि सभी असत् है, तो नियत व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा या अनुपपत्ति, अघटमानता होगी। तेल यह तिल आदि सामग्री में से ही क्यों? बालू में से क्यों नहीं? गगनारविंद में से कार्य क्यों न हों? अमुक अमुक के ही कार्य-कारण भाव दीखते हैं, दूसरों के नही, यह कार्य शून्य सामग्री में से नहीं, किन्तु वैसे वैसे स्वभाव वाली सत् सामग्री में से ही होते हैं तभी बन सकता है।

(४) तथा सभी सामग्रीमय है सामग्रीजन्य है-ऐसा भी कहना अनुपयुक्त है; क्योंकि परमाणु किसी से उत्पाद्य नहीं, फिर भी दृश्यमान स्थूल कार्य पर से यह सिद्ध है ऐसी वस्तु स्थिति है, अन्यथा 'सभी सामग्रीजन्य' कह कर और 'अणु है ही नहीं' कहना यह तो 'सर्व वचन असत्य है' कहने जैसा स्व वचन से ही बाध्य है, क्योंकि सामग्री की अन्तर्गत तो परम्परा से अणु आएंगे ही। मूल में अणु ही न हों तो सामग्री बिना द्वयणुकादि कैसे बनेंगे? यदि अणु को भी बनता मानो, तो किस सामग्री में से? शून्य में से सृष्टि होती नहीं, अन्यथा कोई नियम ही न रहे।

(५) वस्तु का पिछला भाग नहीं दीखताः—

(१) 'पर भाग नहीं दीखता अतः अग्र भाग नहीं'—यह कैसा अनुमान? उल्टा अग्र भाग दीखने से परभाग सिद्ध होता है।

पिछला भाग है अतएव अमुक 'अग्र भाग' कहलाते है। यदि पिछला नहीं तो अगला क्या? अतः अनुमान से निश्चित सिद्ध ऐसे पिछले भाग का अपलाप करने से अगले भाग का प्रतिपादन स्ववचन-विरुद्ध होगा।

(२) कहा कि 'वस्तु का अगला ही भाग दीखता है अतः वस्तु नहीं' इसमें दीखता है और नहीं, ऐसा कहना विरुद्ध है। भ्रान्ति से दीखना कहते हो तो गगनपुष्प का अग्रभाग क्यों नहीं दीखता?

(३) सर्व शून्य तो अर्वाग्-पर, अगला-पिछला इत्यादि भेद कैसे? यदि कहते हो कि 'पर मत की अपेक्षा से, तो' सर्वशून्य' मत में स्वमत-परमत का भी भेद है क्या? इसी तरह भी यदि यह भेद सत् होना स्वीकार्य, तो सर्व शून्यता का भंग! यदि अस्वीकार्य हो फिर भी व्यवहार मानो, तो आकाशकुसुम में व्यवहार क्यों नहीं?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) यदि सब असत् हो तो अगला भाग भी क्यों दीखता है ? सभी अदृश्य क्यों नहीं ? अथवा सभी दृश्य क्यों नहीं ? अथवा पिछला दीखे और अगला नहीं, ऐसा क्यों ?

(५) स्फटिकादि में पिछला भाग भी दीखता है, अतः इतना तो सिद्ध होने से सर्व असत् तो नहीं रहा ! यदि इसे भी असत् कहते हो, तो सर्व शून्य की सिद्धि के लिए 'परभाग अदर्शन' हेतु रक्खा है वह गलत सिद्ध होगा; 'सर्वादर्शन' हेतु ही कहना चाहिये। परन्तु वह तो विरुद्ध है, नहीं तो 'सम्पूर्ण नहीं दीखता, अतः सम्पूर्ण असत् है' ऐसा करके दीवार अथवा कुएं की ओर आंख बन्द कर चलने लगा, तो कुएं में गिरोगे, अथवा दीवार से टकराओगे।

(६) 'पिछला भाग अप्रत्यक्ष होने से नहीं है'–ऐसा कहने पर अगला प्रत्यक्ष है अतः कम से कम प्रत्यक्ष साधन इन्द्रिय और विषय की सत्ता प्राप्त होती है ! ये भी यदि असत् हों, तो प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष का विभाग ही घटित नहीं हो सकता।

(७) बाकी अप्रत्यक्ष भी वस्तु होती है, जैसे कि 'सभी असत् है क्या ?' ऐसा संशय यह कोई वस्तु है। अगर यह संशय भी असत् हो तो इसका विषय (सर्व–शून्यता) क्या ? संशय असत् अर्थात् भूतों का संशय ही नहीं, तो भूत सत् सिद्ध होंगे ! अब यह देखिये कि पिछला भाग अप्रत्यक्ष होने पर भी अनुमान से सिद्ध है। जगत में कई वस्तु अनुमान से मान्य होती है, जैसे कि—

अप्रत्यक्ष वस्तु अनुमान से सिद्ध होने के उदाहरणः—

वायु यह स्पर्श, शब्द, स्वास्थ्य, कंपन आदि गुण के आश्रय गुणी के रूप में गम्य है। ठंडी पवन लहरी के स्पर्श से कहते हैं 'वायु ठंडा बह रहा है।' पवन की दिशा में शब्द सुना जाता है विरुद्ध दिशा में नहीं; इससे सूचित होता है कि उस शब्द का आश्रय वायु उस दिशा में बह रहा है।

आकाश यह पृथ्वी–पानी आदि के आधार रूप में सिद्ध है। पृथ्वी साधार है, मूर्त होने से; जैसे पानी का आधार पृथ्वी, वैसे पृथ्वी का आधार आकाश।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पंचभूत जीव–शरीर के आधार से और उपयोग से सिद्ध हैं।

वनस्पतिकाय यह मानव शरीर के भांति जन्म, जरा, जीवन, मरण, वृद्धि, छेदने के बाद भी समान अंकुरोत्पत्ति, आहार, दोहद(कुष्मांड–बीजोरा आदि) रोग–चिकित्सा आदि से जीव रूप सिद्ध होता है। वनस्पतिकाय में विशेष जीव इस प्रकार सिद्ध है :—

लजवन्ती	स्पृष्ट संकोच से सिद्ध	बकुल	शब्दाकर्षण से सिद्ध
बेल	स्वरक्षार्थ बाड़, दीवार	अशोक	रूपाकर्षण से ,,
	आदि के आश्रय से सिद्ध	कुरुबरु	गंधाकर्षण से ,,
शमी आदि	निद्रा–जागरण–	विरहक	रसाकर्षण से ,,
	संकोचादि से सिद्ध	चंपा तिलक	स्पर्शाकर्षण से ,,

पृथ्वीकाय जीव मांसाकुर की भांति समान जाति के अंकुर की वृद्धि से सिद्ध हैं। खोदे हुए पर्वत, खान, कई वर्ष बीतने पर तद्रूप भर जाते हैं। बिना जीव के यह कैसे हो ?

अप्काय जीव खोदी हुई भूमि में से मेंढक की भांति सजातीय स्वाभाविक प्रकट होने से सिद्ध होते हैं। मत्स्य की भांति आकाश में से मेघादि के विकार वश होने से सिद्ध हैं।

वायुकाय जीव बैल की भांति पर–प्रेरणा के बिना तिर्छी अनियमित गति से सिद्ध हैं।

अग्निकाय जीव आहार पर जीने से, और आहार वृद्धि से विशेष विकासमय–विकारमय बनने से सिद्ध हैं।

इस प्रकार पृथ्वी आदि ये, आकाशीय विकार संध्या आदि से, भिन्न और मूर्त हैं, अतः जीवकाय हैं। इतना ही नहीं परन्तु यदि एकेन्द्रिय जीव ही न हों, तो संसार का उच्छेद ही हो जाय। क्योंकि अनादि अनन्त काल से मोक्ष–गमन चालू है, फिर भी यहां जीवों का पार नहीं। तो इतने जीव कहां ठहरे ? एकेन्द्रिय शरीर में ठहरना मानना होगा।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

हिंसा अहिंसा कहां ?

प्र०—तो फिर जीव-व्याप्त संसार में अहिंसा का पालन कैसे हो ?

उ०—शस्त्रोपहत बनी हुई पृथ्वी आदि अचेतन है; इसके उपभोग में हिंसा नहीं। वैसे यह भी समझने योग्य है कि निश्चय नय से नियम नहीं कि 'जीव मरे वहाँ हिंसा ही हो, न मरे वहां अहिंसा ही हो।' यह भी नियम नहीं कि 'जीव कम हों वहां अहिंसक हों, और अधिक हों वहां हिंसक ही बना जाय।' क्योंकि राजादि को मारने के दुष्ट अध्यवसाय वाला पुरुष न मारते हुए भी हिंसक ही है। वैद्य रोगी को कष्ट देते हुए भी अहिंसक ही है। पांच समिति—तीन गुप्ति-वाला ज्ञानी मुनि जीव के स्वरूप का और जीवरक्षा की क्रिया का ज्ञाता हो व सर्वथा जीव रक्षा का जाग्रत् परिणाम वाला और उसमें यतनाशील हो, और कदाचित् अनिवार्य हिंसा हो भी गई हो, तब भी वह हिंसक नहीं। इसके विपरीत दशा में जीव न भी मरे तो भी हिंसा है, क्योंकि उसके प्रमाद परिणामअशुभ हैं।

अतः अशुभ परिणाम यह हिंसा है; जैसे तंदुल—मच्छादि को हिंसा सोचते रहने से हिंसा लगती है।

प्र०—तो क्या बाह्य जीव की हत्या हिंसा नहीं ?

उ०—हिंसा और अहिंसा दोनों में ऐसा है कि—जो बाह्य जीवहत्या अशुभ परिणाम का कार्य हो या कारण हो, वह तो हिंसा है; और ऐसा न हो वह हिंसा नहीं। जैसे निर्मोही को भावशुद्धि के कारण इष्ट शब्दादि विषयों का संपर्क रति के लिए नहीं होता, इसी तरह विशुद्ध मन वाले का अनिवार्य बाह्य जीवनाश हिंसा के लिए नहीं।

इस प्रकार पांच भूत सत् सिद्ध होते हैं। इनमें प्रथम चार चेतन हैं, आकाश चेतन नहीं। शास्त्र में 'स्वप्नोपमं वै सकलम्' कहा, वह तो भव्य जीवों को धन, विषय, स्त्री, पुत्रादि जगत की असारता बतानेवाला कथन है, जिससे इसकी आस्था छोड़कर भवभय से उद्विग्न बनकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करें। प्रभु के इस प्रकार समझाने से व्यक्त ब्राह्मण भी अब निःसंदेह होकर अपने ५०० विद्यार्थी के परिवार सहित प्रभु के पास दीक्षित बने।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

५ वे गणधर–सुधर्मा

जैसा यहां वैसा ही जन्म परभव में ?

पांचवे ब्राह्मण सुधर्मा को शका थी कि 'जीव यहां जैसा होता है क्या वैसा ही परभव में भी होता है ?' प्रभु महावीर ने उसे कहा कि 'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते, पशवः पशुत्वम्' इस वेद–पंक्ति से 'मनुष्य मनुष्य होता है, पशु पशु होता है' ऐसा जानने को मिला और 'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते' इस वेद-पंक्ति से जिसे विष्ठा सहित जलाया जाता है वह सियार होता है, इस प्रकार मनुष्य में से सियार भी हो सकने का पता चला, इससे तुझे शंका उत्पन्न हुई ।

—असमान परभव के तर्क—

(१) जीव जैसा इस भव में, वैसा परभव में होता है इसके समर्थन में यह तर्क लगा कि 'गेहूँ में से गेहूं, बाजरी में से बाजरी, आम में से आम..... इस प्रकार कारण के अनुरूप कार्य होता है ।' परन्तु ऐसी मान्यता युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि शृंग में से बाण, और यदि सरसों से लेप कर बोया जाए तो घास भी होती है । योनि-प्रामृत नाम के शास्त्र में असमान अनेक द्रव्यों के संयोग से सर्प–सिंहादि और मणि स्वर्णादि उत्पन्न होना बताया है । चालू व्यवहार में बीछी में से और गोबर में से भी बींछी होती दिखाई देती है ।

(२) 'बीज के अनुरूप ही कार्य होता है तो इसे नियम के अनुसार भी असमान भवांतर हो सकता है । वह इस प्रकार कि संसार में भव का बीज कर्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है और वह कर्म मिथ्यात्व–अविरति आदि हेतुओं की विचित्रता से विचित्र विचित्र रूप में उत्पन्न होता है, तो उसमें से होने वाला भवांकुर भी गति, जाति, कुल, बल ऐश्वर्य, रूपादि विचित्र परिणाम वाला ही बने इसमें क्या आश्चर्य ? अनुमानतः—'जीव की सांसारिकता नारकादि के रूप में भिन्न भिन्न होती है; क्योंकि यह विचित्र कर्म का कार्य है, जैसे कृषि–व्यापारादि विचित्र कर्म से उत्पन्न 'लोक–विचित्रता' । तात्पर्य भव आकस्मिक नहीं किन्तु पूर्व कर्म का फल है, अतः जैसा कर्म वैसा भव होगा; समान कर्म से समान भव, असमान कर्म से असमान ।

(३) कर्म परिणति विचित्र है क्योंकि यह पुद्गल–परिणति रूप है, समान दृष्टान्त मेघ आदि । विरुद्ध दृष्टान्त आकाश । कर्म में आवरणादि की भिन्न भिन्नता से विशेष विचित्रता होती है । हेतु विचित्रता को ले कर कार्य-विचित्रता हो, यही युक्तियुक्त है ।

(४) यहां के जैसा भवांतर ऐसा कहते हो, परन्तु भवांतर के लिए अकेला यह भव ही बीज नहीं है, परन्तु शुभाशुभ क्रिया सहित भव यह बीज है। मनुष्य विचित्र क्रियाएं करते हैं वे निष्फल न जाएं अतः उनके फल रूप में विचित्र भवांतर मानने ही पड़े ।

(५) प्र०–खेती आदि क्रियाएं तो प्रत्यक्ष फल देती है, परन्तु हिंसा-ज्ञानादि क्रियाएं तो मनोरुचि के अनुसार ही होने से निष्फल ही हैं । फिर असमान भवांतर कैसे ?

उ०—यदि हिंसा–ज्ञानादि क्रियाएं निष्फल हों तो (i) कृतनाश–अकृत-आगम की आपत्ति, अर्थात् की गई क्रिया तो बिना फल यों ही नष्ट होने की आपत्ति; और आगे जो भला–बुरा फल मिलता है वह ऐसे ही अर्थात् पूर्व में अ–कृत यानी कुछ किए बिना आकस्मिक आगमन रूप होगा !

(ii) भवांतर ही न होगा ! क्योंकि जगत में भव का कारण कर्म है और इस क्रिया से कर्म होना तो तुम्हें मान्य नहीं । फिर भव ही नहीं तो समान भवांतर की भी बात कहां रही ? फ़िर भी हो तो कृत का आगमन हुआ । इस

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्रकार भव से भव, भव से भव, भव...इस तरह चलता ही रहेगा, और मोक्ष कभी नहीं होगा। क्योंकि आप को तो भव के प्रति पूर्व भव ही कारण है।

(६) प्र०—मिट्टी में से स्व स्वभाव से अनुरूप कार्य घड़ा होता है, इसी प्रकार इस भव में से स्व स्वभाव से अनुरूप समान भवांतर होना चाहिये।

उ०—घड़ा भी कर्ता, करण आदि की अपेक्षा रखता है, इस प्रकार यहां भवांतर भी जीव कर्म आदि की अपेक्षा रखता है। 'बिना कर्म के स्वभाव से होता हो,' तो भवांतरीय शरीर यह मेघ आदि की भांति अनिश्चित आकार-वाला होगा, निश्चित आकारवाला कैसे ?

(७) 'यह भव वैसे स्वभाव से ही समान भवांतर करता है' ऐसा अगर कहो, तो यह बताइये 'स्वभाव' क्या वस्तु है ? क्या वस्तु का स्वभाव यह (१) वस्तु रूप है ? अथवा (२) निष्कारणता रूप है ? या (३) वस्तुधर्म रूप वह होता है ?

प्रस्तुत में (१) **'वस्तु'** रूप में यह भव लो, तो भवांतर के पहले ही वह **तो** नष्ट हो चुका, फिर भवांतर में स्वभाव रूप से वह कारण कैसे ? वस्तु-रूप में यदि कारण पकड़ो तो वह अपने प्रति कारण कैसे हो सकता है। (२) **निष्का-रणता** कहते हो तो उसमें तो यह आया, कि 'भवांतर निष्कारणता से इस भव के समान होता है'। यों जब निष्कारणता ही भवांतर में प्रयोजक है, तब तो ये प्रश्न होते हैं कि (i) भवांतर सदृश ही हों, असदृश नहीं, यह कैसे ? (ii) भवो-च्छेद क्यों नहीं ? (iii) निश्चित आकार क्यों (iv) एवं भव नित्य सत् हो या नित्य असत् हो, पर कदाचित् सत् क्यों ? (३) स्वभावरूप से **वस्तु-धर्म** कहते हो तो यह आया कि 'भव वस्तुधर्म से भवांतर समान करता है तब इस भव का ऐसा कौन सा धर्म है जो भवांतर में कारण भूत हो ? मूर्त अथवा अमूर्त ? अमूर्त नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसे अमूर्त का कार्य मूर्त शरीर सुख-दुःखादि नहीं बन सकता। मूर्त धर्म कहते हो तो 'वह सदा समान ही हो', यह नियम क्यों, कि जिससे यह समान ही भवांतर करे ऐसा कह सकें ?

(८) वस्तु-स्थिति यह है कि मात्र आत्मा का परभव ही क्या, त्रिभुवन में वस्तुमात्र कई पूर्व पर्याय से तदवस्थ रहती हैं तों कई पूर्व पर्याय छोड़कर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उत्तरोत्तर पर्याय रूप से उत्पन्न होती हैं। ये उत्तर पर्याय समान ही हों ऐसा कहाँ है ? तो समान परभव का आग्रह क्यों ? वैसे तो इसी भव में भी कई सत्त्व–आत्मत्वादि समान पर्याय होते हैं, वैसे बचपन, जवानी आदि असमान भी बनते हैं, तो वहां भी अकेले समान का ही आग्रह क्यों नहीं ?

प्र०—हम समानता मनुष्यत्व, पशुत्व आदि ही समान पर्याय तक कहते हैं ?

उ०—ध्यान में रहे कि पर्याय का बनना कारण–सापेक्ष है, और प्रस्तुत में कारणभूत कर्म–विचित्र भी है, अतः तज्जन्य पर्याय असमान भी होगा। अन्यथा मात्र मनुष्य ही क्यों ? यहां जो दरिद्र वह परभव में दरिद्र ही होगा। और श्रीमन्त श्रीमन्त ही; जो रोगी हो वह रोगी ही, और नीच कुल वाला नीच कुल में ही हो। 'हां, ऐसा ही है' ऐसा नहीं कह सकते; अन्यथा तप–दानादि क्रिया निष्फल जाय! प्रत्यक्ष भव में भी रोगी निरोगी बनता है, दरिद्र श्रीमंत भी बनता है, यहां भी यदि असमान हो तो परभव में क्यों असमान न हो ?

(६) परभव समान ही हो तो 'शृगालो वै एष.....' 'अग्निहोत्रं.... स्वर्गकामः....।' आदि वेदवचन निरर्थक सिद्ध होंगे। अतः 'पुरुषो वै पुरुषत्वम्....' का भाव यह है कि जो व्यक्ति स्वभाव से भद्र, विनीत, दयालु हो, वह पुनः मनुष्यायु को बांध कर मनुष्य हो सकता है।

भगवान की इस समझाइश से सुधर्मा भी निःशंक हो कर अपने ५०० विद्यार्थियों के परिवार के साथ प्रभु के शिष्य बनें।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

छठे गणधर–मंडित

बंध–मोक्ष हैं ?

छठे मंडित ब्राह्मण आए । इन्हें प्रभु कहते हैं, 'तुम्हें दो प्रकार की वेद-पंक्ति मिलीं, 'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते, न संसरति वा, न मुच्यते मोचयति वा.....' 'न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति.....' इनमें से एक में मिला कि 'यह व्यापक सत्व–रजो–तमोगुण से रहित आत्मा न तो बन्धन में आती और न संसार के परिवर्तन से परिवर्तित होती, न मोक्ष प्राप्त करती और न मुक्त करवाती ।' जब कि दूसरी ओर यह मिला कि 'शरीरधारी आत्मा को सुख दुःख का नाश नहीं, अर्थात् आत्मा शरीर में बद्ध होती है, सुख दुःख के परिवर्तन भी पाती है और शरीर से जब मुक्त होती है तब यह जंजाल नहीं रहता ।' इससे तुम्हें संशय हुआ कि जीव के बंध और मोक्ष होते होंगे या नहीं ?

पूर्व पक्षः— बंध–मोक्ष नहीं :—

जीव के बंध नहीं होता इसके समर्थन में यह विचारणा आती है कि 'बंध अर्थात् जीव का कर्म के साथ योग । परन्तु ये जीव व कर्म दोनों एक दूसरे के साथ ही होते हैं अथवा आगे पीछे ?

(१) 'पहिले जीव, पीछे कर्म' यह घटित नहीं होता, क्यों कि तब तो जीव या तो (i) कारण बिना जन्मा हो, या (ii) अनादि का हो। परन्तु (i) पहले विकल्प में, कारण बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती । जो उत्पन्न होता

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

है वह कारणपूर्वक ही होता है; और अकारण उत्पन्न होता हो तब तो अकारण ही नष्ट हो जाय । उत्पन्न होने के पश्चात् दीखे क्यों ? (ii) अनादि हो, तो फिर बिना कारण के कर्म कैसे खड़े हुए और जीव को कैस चिपके ? ऐसे ही चिपकते हों तो मुक्त का भी चिपक जाएं ।

(२) 'तब पहिले कर्म, फिर जीव' यह भी नहीं हो सकता, क्यों कि बिना कर्ता के कर्म उत्पन्न होगे ही कैसे ? यदि उत्पन्न हों तो अकारण नष्ट भी हो जाएं ।

(३) तो कर्म और जीव दोनों की साथ उत्पत्ति कहने में तो दोनों पक्षों के दोष हैं; और दोनों के बीच कर्तृ–कर्मभाव भी घटित नहीं हो सकता, जैसे बाएं–दाहिने सींग के बीच यह कर्तृ–कर्म भाव नहीं है ।

इस प्रकार जीव और कर्म का बंध घटित ही नहीं होता; अतः बद्ध ही नहीं तो मोक्ष क्या होगा ? तब यदि कर्म–जीव का अनादि संयोग हो, तो अनादि का नाश नहीं होता, इसलिए भी मोक्ष घटित नहीं है । जीव आकाश का अनादि संयोग सर्वथा कहां नष्ट होता है ? कहने का सार यह है कि जीव का बंध या मोक्ष है ही नहीं ।

उत्तर पक्षः— बंध—मोक्ष हैं :—

(१) शरीर और कर्म की परम्परा अनादि हैं, जैसे बीज और फल की परम्परा । बिना कारण कार्य नहीं होता, अतः मानना होगा कि कर्म किसी पूर्व शरीर से बने हुए हैं । वह शरीर इसके पूर्वकृत कर्मों से बना हुआ था ।.....इस प्रकार अनादि प्रवाह चला आ रहा है । परन्तु ध्यान में रहे कि कर्म और शरीर ये दोनों तो करण रूप हैं, साधनरूप हैं, जब कि कर्ता जीव है । जीव के कर्म करने में शरीर साधन है और शरीर बनाने में कर्म साधन है । इस प्रकार कर्म जीव के साथ संबद्ध होते हैं अतः जीव का बंध सिद्ध होता है ।

प्र०—कर्म हो तो दिखाई दे न ?

उ०—कर्म भले ही अतीन्द्रिय अप्रत्यक्ष हों, परन्तु कार्य के आधार पर इनका अनुमान होता है । वैसे तो तुम्हारी बुद्धि–अक्ल भी दीखती नहीं, तो क्या यह नहीं है ? क्या तुम बुद्धिहीन हो ? 'न दिखे वह चीज नहीं यह नियम नहीं ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(२) अनादि का नाश होता ही नहीं—ऐसा एकान्त नहीं है। अनादि कर्म-संयोग-परम्परा का अन्त हो सकता है, जैसे बीज सेका गया, अथवा फल जल गया, तो इसकी अनादि से चली आ रही परम्परा का अन्त आता है। पुत्र ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया तो उसके पूर्व की, पिता-पुत्र पिता-पुत्र इत्यादि चली आ रही, अनादि परम्परा का अन्त आता है। मुर्गी अण्डा देने से पहले मर गई, अथवा अडा फूट गया, तो उसके आगे परम्परा न चलने से उसकी अनादि परम्परा अब आगे नहीं बढ़ेगी। अतः जैसे स्वर्ण-मिट्टी का सम्बन्ध प्रारम्भ से ही होने पर भी अग्नि-तापादि उपाय से टूटता है, उसी प्रकार तप-संयमादि उपाय से जीव-कर्म का सम्बन्ध भी नष्ट हो कर मोक्ष हो सकता है। इतना अवश्य है कि मोक्ष भव्य का होता है, अभव्य का नहीं।

भव्यत्व क्या ? कैसा ?

प्र०—कोई भव्य, कोई अभव्य क्यों ? नारक तिर्यंच की भांति यह भेद कहते हो तो वह कर्मकृत सिद्ध होगा।

उ०—नहीं यह स्वभावकृत भेद है। सत् रूप से समान होने पर भी जैसे स्वभाव से कोई चेतन, कोई अचेतन, ऐसे भेद होते हैं, इसी तरह जीव रूप से समान होते हुए भी कोई भव्य और कोई अभव्य ऐसे भेद सहज अनादिसिद्ध हैं।

प्र०—भव्यत्व यदि जीवत्व की भांति सहज अर्थात् अनादि हो तो नष्ट क्यों हो ? जीवत्व का नाश कहां होता है ? वैसे भव्यत्व का नाश क्यों ?

उ०—घट-प्रागभाव अनादि होते हुए भी इसका कार्य जो घट वह पैदा होते ही प्रागभाव नष्ट होता है, इसी भाँति भव्यत्व का कार्य 'मोक्ष' होने के साथ ही भव्यता का नष्ट होना युक्तिसंगत है। 'प्रागभाव तो अभाव रूप है, इसका साम्य भावात्मक भव्यत्व से कैसा हो ?'—ऐसा मत कहिये; प्रागभाव भी घटानुत्पत्ति से विशिष्ट पुद्गल समूहरूप होने से कथंचित् भावात्मक है। यह उस रूप में नष्ट हो सकता है, भले अनादि हो। भव्यत्व भी मोक्षयोग्यता रूप होने से मोक्ष सिद्ध होते ही नष्ट हो जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

संसार रिक्त क्यों न हो ?

प्र०—अगर भव्यों का मोक्ष हो जाता है तो संसार में से कभी सर्वथा भव्योच्छेद हो जाना चाहिये ! जैसे भंडार में से एक एक भी दाना निकालते-निकालते वह खाली हो जाता है ।

उ०—नहीं, काल की भांति भव्य-राशि अनन्त है । समय समय व्यतीत होते हुए भी काल का उच्छेद नहीं, ऐसे ही भव्य जीवों का भी नहीं, भले प्रति छः माह में कम से कम एक तो मोक्ष गमन करे ही ।

प्र०—काल सीमित नहीं, भव्य तो सीमित हैं । जगत में जितने भव्य हैं, उतने ही हैं, नए बढ़ने के नहीं, फिर अनन्तानंत व्यतीत होने पर तो इनका अभाव हो न ?

उ०—नहीं, आज से लगाकर भावी चाहो जितना अनन्तानन्त काल लो, वह तो परिमित ही है, जब कि अतीत काल की तो आदि ही न होने से अपरिमित है । अब सोचो कि अपरिमित काल में जो रिक्त होना था वह नहीं हुआ, वह इस परिमित काल में कैसे रिक्त होगा ? यह तो भविष्य में भी जब पूछा जाएगा तब यही उत्तर रहेगा कि 'एक निगोद (अनन्त जीवों के शरीर) में रही हुई जीव राशि की अपेक्षा अनन्तवें भाग की संख्या में ही जीव मोक्ष गए हैं । सर्वज्ञ के अन्य कथन की भांति यह कथन भी सत्य ही मानना चाहिए ।

प्र०—मोक्ष न पाने वाले सभी अभव्य क्यों नहीं ?

उ०—'भव्य' का अर्थ मोक्ष पाने वाले ऐसा नहीं, किन्तु पाने की योग्यता वाले ऐसा है । अर्थात् तपसंयमादि सामग्री मिले तो प्राप्त कर सकें ऐसे जीव भव्य है । जिन्हें वे सामग्री नहीं मिली इतने मात्र से वे जीव अभव्य नहीं । जैसे प्रतिमा के योग्य काष्ठ को सामग्री न मिली तो प्रतिमा नहीं बनेगी, परन्तु इससे इसे अयोग्य नहीं गिन सकते ।

प्र०—'मोक्ष 'उत्पन्न' हुआ तो फिर 'नष्ट' क्यों न हो ?'

उ०—जैसे ध्वंस उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट नहीं होता, वैसे ही मोक्ष भी नष्ट नहीं होता है । अथवा मोक्ष उत्पन्न होने जैसा क्या है ? आत्मा का

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

शुद्ध स्वरूप प्रगट हुआ, यही मोक्ष है। घड़ा फूटने से घटाकाश नष्ट हुआ, परन्तु उससे आकाश में कोई नयी वृद्धि नहीं हुई। इस प्रकार इस कर्मक्षय से शरीरी आत्मा न रही, बाकी आत्मा में कोई नई वृद्धि नहीं होती कि जो बाद में नष्ट हो।

मोक्ष होने के पश्चात् ये जीव और कर्म-पुद्गल लोक में ही रहते हुए भी मुक्त हुई आत्मा पर कर्म बन्ध होने के कारण भूत मन—वचन–काय–योगादि अब कभी न मिलने से कर्म–बन्ध नहीं होता। वैसे जब कर्म बीज ही नहीं, तो भवांकुर भी नहीं। आत्मा द्रव्य रूप से नित्य और संसार-पर्याय रूप से अनित्य एवं उन संसार पर्यायों के नष्ट होते ही अविनाशी मोक्षपर्याय रूप में उत्पन्न होती है।

इस प्रकार आत्मा नित्यानित्य होने से आप ऐसा नहीं कह सकते कि 'नित्य और अमूर्त होने से आत्मा आकाश की भांति सर्वगत है।' क्यों कि आत्मा एकांतनित्य है ही नहीं; इस प्रकार कर्तृत्व-भोक्तृत्व-द्रष्टृत्वादि से भी सर्वगतता बाधित है। इसीलिए सर्व कर्मक्षय होने पर अपूर्व सिद्धत्व परिणाम की भांति ऊर्ध्वगति परिणाम प्राप्त होने से ऊंची लोकान्त में जा सकती है। सर्वगत में तो 'जाना' क्या ? लोकान्त में जाने के पश्चात् पतन के कारण कर्म, प्रयत्न, आकर्षण–विकर्षण-गुरुत्वादि वहां नहीं, अतः कभी भी पतन नहीं।

प्र०—अमूर्त आत्मा आकाशवत् अक्रिय क्यों नहीं ?

उ०—आकाश की अपेक्षा आत्मा में जैसे चेतनत्व कर्तृत्वादि विशेष धर्म है, इसी तरह सक्रियत्व भी एक विशेष धर्म है। यद्यपि देह-क्रिया में कर्मविशिष्ट आत्मा कारण है और इस देह–क्रिया के साथ आत्मा सक्रिय होती है। सर्वकर्म क्षय होने पर पूर्व प्रयोग से आत्मा, पानी के नीचे रही तुम्बी, उसे लगी हुई मिट्टी धुल जाने पर जैसे स्वयं ही सक्रिय होती ऊंचे आती है, उसी तरह जीव कर्म-रूपी बोझ नष्ट होते ही ऊर्ध्वगतिक बनता है, किन्तु वह सिद्धशिला तक ही। आगे अलोक में गति–सहायक धर्मास्तिकाय पदार्थ न होने से गति नहीं होती। लोकान्ते जहां रहा वहां कर्म देह व देह-क्रिया नहीं, अतः आत्मा में गमनादि क्रिया नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्र--अलोक, धर्मा०, अधर्मा० आदि होने के प्रमाण क्या ?

उ०—'लोक' व्युत्पत्ति वाला शुद्ध पद होने से, इसका जो प्रतिपक्ष हो, वही अलोक; जैसे कि चेतन का प्रतिपक्ष अचेतन।

प्र०—घड़ा, वस्त्र आदि ही अलोक है ऐसा मानतें हो न ?

उ०—नहीं, प्रतिपक्ष इसके अनुरूप अर्थात् मेलवाला होना चाहिए। जैसे 'अपंडित' किसी चेतन पुरुष व्यक्ति को कहते हैं, जड़ घड़े को नहीं। इस प्रकार अलोक यह आकाशरूप लोक के अनुरूप अलग आकाशरूप से सिद्ध है इसलिए लोकस्वरूप आकाश को अलोक आकाश से भिन्न करनेवाला धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय द्रव्य सिद्ध होता है। यह यदि न हो, तो जीव-पुद्गल-अनंत आकाश में तितर बितर हो जाय। फिर औदारिकादि-पुद्गलवर्गणा वश जीव में बंध मोक्ष, सुख, दुःख, भव-संसरण आदि कैसे हो ? तथा जीव का जीव पर अनुग्रह भी कैसे ? अतः धर्मास्तिकाय जैसे पानी मछली को, वैसे जीव-पुद्गल को लोक में ही गति में सहायक होता है। गति किसी से अनुगृहीत होती है जैसे-जल से मत्स्य की गति; इससे धर्मास्तिकाय; और स्थिति भी किसी से अनुगृहीत होती है, जैसे कि कोई वृद्ध रास्ते में लकड़ी के आधार पर खड़ा रह सकता है; इससे अधर्मास्तिकाय सिद्ध होता है।

मोक्ष की आदि नहीं; मोक्ष में अनन्त समा जाते हैं :-

शरीरयुक्तता, काल आदि कब से शुरू हुए ? इसका प्रारम्भ है ही नहीं, अनादि से चले आ रहे हैं। सिद्धता की अर्थात् सिद्ध होना कब से प्रारम्भ हुआ, इसकी आदि नहीं। परिमित देश में भी हजारों मूर्त दीप प्रभाएँ समा जाती हैं, तो इसी सिद्ध क्षेत्र में अरूपी अनन्त सिद्ध समाएं, इसमें क्या आश्चर्य है।

'स एष विगुणो विभुर्न बध्यते.....' यह वचन सिद्ध के सम्बन्ध में कहा है।

इस प्रकार समझाने से मंडित विप्र भी समझ गए और ३५० विद्यार्थीगण के साथ प्रभु के शिष्य बने।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सातवें गणधर–मौर्यपुत्र

क्या देवता हैं ?

सातवें मौर्यपुत्र नामक ब्राह्मण आए। उन्हें शंका थी कि देव स्वर्ग है या नहीं ? उनसे प्रभु कहते हैं— 'को जानाति मायोपमान् गीर्वाणान्' 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकम् गच्छति' इस प्रकार दो तरह की वेद-पंक्ति मिलने से तुम्हें देव के होने के विषय में शंका हुई कि 'माया—इन्द्रजाल जैसे देव किसने देखें ?'–इससे अर्थात् देव नहीं, ऐसा प्रतीत होता है; व 'पापवारण के लिए शस्त्रसमान यज्ञवाला यजमान स्वर्ग लोक जाता है' इस वचन से देव हैं ऐसा ज्ञात होता है।

देव का न होना इसलिए लगा कि नारकीय जीव तो परतन्त्र होने से यहां नहीं आ सकते, परन्तु स्वेच्छाचारी और दिव्य प्रभाव वाले माने गए देव यदि हों, तो क्यों न आएं ? आते नहीं हैं यह देव का अभाव सूचित करता है।

परन्तु देव सत्ता के ये प्रमाण हैं :—

(१) समवसरण में देव प्रत्यक्ष दीखते हैं।

(२) ज्योतिष विमान ये स्थानरूप होने से महल की भांति किसी का उसमें निवास होना चाहिये; यही निवासी देवताओं का एक वर्ग है। इन्हें विमान इसलिए कहते हैं कि ये रत्नमय हैं, और आकाश में नियतरूप से विचरण करते हैं। पवन, मेघ, अग्नि का गोला रत्नमय नहीं इसलिए किसी का निवास नहीं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

प्र०—इसे तो माया–रचना क्यों न कहें ?

उ०—तो भी ऐसी रचना करने वाले देव सिद्ध होंगे । मनुष्य की यह रचना–सामर्थ्य नहीं ।

(३) जैसे उत्कृष्ट पाप का फल नारक हो कर भोगते हैं वैसे उत्कृष्ट पुण्य फल का भोक्ता कौन ? देव ही । दुर्गन्धपूर्ण धातु से युक्त शरीर, रोग, जरा आदि विडम्बणा वाला मनुष्य उत्कृष्ट सुख–भोगी नहीं कहलाता ।

(४) पूर्वजन्म के स्मरण वाले के कथन से भी देव सिद्ध होते हैं, जैसे कि–कई देशों में भ्रमण करके आए हुए के कथन से तथाकथित देशों और उनकी वस्तुओं का परिचय होता है ।

(५) विद्या–मन्त्र की साधना से इष्टसिद्धि होती है वह देवप्रसाद से ही होती है, जैसे कि राजा की कृपा से इष्टसिद्धि होती है ।

(६) किसी व्यक्ति में कभी–कभी विचित्र बकवाद आदि विकृत चेष्टाएं दिख ई देती हैं जो उसमें साधारण परिस्थिति में नहीं होती हैं । ऐसे असंभवित विकार किसी देव के प्रवेश से ही होते हैं; जैसे कि सीधी गति से चलता हुआ यांत्रिक वाहन जब विचित्र गति धारण करता है तब अनुमान होता है कि उसमें बैठा हुआ व्यक्ति उसमें परिवर्तन लाता है । इस प्रकार शरीर में प्रविष्ट देव असाधारण चेष्टा कराता है ।

(७) देव–मन्दिर में कभी चमत्कार, मनुष्य के विशिष्ट स्वप्न, व उसे विशिष्ट दर्शनादि भी देवसत्ता सिद्ध करते हैं ।

(८) 'देव' यह व्युत्पत्तिमत् शुद्ध पद है जो सार्थक ही होता है । अतः इससे वाच्य देव होने चाहिये ।

प्र०—वह तो बड़े ऐश्वर्यवान् व्यक्ति पर घटित होता है न ? कहते हैं, 'भाई ! यह तो देव–तुल्य है ।'

उ०—प्रथम कोई मुख्य वाच्य–अर्थ होता है, फिर उपचरित अर्थ दूसरे स्थान में बिठाया जाता है । मूल ही की प्रतिलिपि होती है । यदि मूल ही नहीं

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

तो प्रतिलिपि कैसी ? मुख्य सिंह होता है तभी शूरवीर व्यक्ति को ले कर कहते हैं कि यह नरसिंह है ।

(९) 'देव' 'अमर' 'गीर्वाण', 'दिवौकस' आदि सब स्वतन्त्र पर्याय मनुष्य पर नहीं किन्तु देव वस्तु पर ही घटित होते हैं ।

(१०) देव सत्ता न हो तो उच्च तप व दानादि क्रिया निष्फल होनी चाहिये । तब अगर देव ही नहीं, तो सोम, यम, सूर्य, सुरगुरु आदि का प्रतिपादक तथा इन्द्रादि का आह्वान करने वाला वेदवचन भी निरर्थक सिद्ध होगा ।

यहां देवों के न आने के कारणः–१. दिव्य प्रेम की संक्रांति, २. दिव्य विषयासक्ति ३. असीम दिव्य कर्तव्यता (अति कर्तव्य–साधन में नियुक्त विनीत पुरुष की भाँति) ४. अनधीन मनुष्य–कार्यता (गृह त्यागी यति की भांति) ५. अशुभ मृत्युलोक-गन्ध ।

फिर भी देवताओं के आने के कारणः– १. जिन–कल्याणक–समारोह २. संशय–विच्छेद ३. किसी पर तीव्र राग ४. प्रतिबोधादि संकेत–पालन, ५. वैर, ६. कौतुक, ७, महात्मा के सत्व का आकर्षण या महिमाकरण, ८. मित्र–पुत्रादि अनुग्रह, ९. साध्वादि–परीक्षा.....आदि हैं। इन कारणों से देव यहां आते हैं ।

देव को मायातुल्य कह कर सूचित किया कि ऐसी दिव्य समृद्धि भी अनित्य है, तो मानवीय सम्पत्ति का तो पूछना ही क्या ? फिर क्यों इसमें रक्त ।

इस समझाइश से शंकारहित बने हुए मौर्य पुत्र ने ३५० के परिवार सहित प्रभु के पास दीक्षा ली ।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

आठवें गणधर–अकंपित

नारक हैं क्या ?

अब आठवें अकंपित नामक ब्राह्मण आएं । उनसे प्रभु कहते हैं—'न ह वै प्रेत्य नारकाः सन्ति ।' 'नारको वै एष जायते यः शुद्रान्नमश्नाति ।' ऐसे दो प्रकार के विरोधी वेद वचन तुम्हें मिलने से कि 'परलोक में नारक हैं नहीं' तथा 'शूद्र का अन्न जो खाता है, वह नरकगामी होता है' यह जान कर तुम्हें शंका हुई कि नारक होंगे या क्या ?

नारकों का न होना इसलिए लगा कि चंद्रादि तथा अन्य भी देव तो अब भी प्रत्यक्ष हो, परन्तु नारक कहां दीखते हैं ? देव, मनुष्य, तिर्यंच से सर्वथा विलक्षण नारक जैसे कोई हों ऐसा अनुमान भी कैसे हो ? परन्तु

नारक सत्ता के ये प्रमाण हैं:–

(१) तुम्हें अकेले को नहीं दीखते, अतः नारक नहीं, ऐसा है ? ऐसी तो सिंह बाघ आदि जैसी भी तो वस्तुएं होती हैं न ? फिर **'अकेली बाह्य इन्द्रिय से दीखे, वही प्रत्यक्ष'–ऐसा नहीं है,** आत्म–प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ को दीखता है । इस प्रकार,

इन्द्रिय व्यापार से जो ज्ञात हो वह वास्तव में प्रत्यक्ष ही नहीं

क्यों कि इन्द्रिय–व्यापार बन्द होते हुए भी वस्तु होती है । इसी तरह इन्द्रिय–प्रत्यक्ष तो अनन्तधर्मात्मक वस्तु में से अति अल्प धर्म को देखता है,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इसमें वस्तु प्रत्यक्ष कैसा ? यह तो हेतु से होने वाले एक प्रकार के वस्तुसाधक अनुमान जैसा है, 'यह घड़ा है, क्योंकि पूर्व संकेत काल में ऐसे ही पदार्थ में मुझे आप्त पुरुष ने घट–संकेत करवाया था।' भले अधिक अभ्यास में इसका पता न चले। इतना जीव को छोड़कर अन्य बा ह्य निमित्त से होने वाला ज्ञान वस्तुतः परोक्ष ही है। केवलज्ञानी आत्मा से नारकों का वास्तव प्रत्यक्ष होता है।

(२) उत्कृष्ट पापों की सजा कहां ? ऐसे पाप का फल–भोग कहां ? पशु कीट आदि अवतार में नहीं, क्योंकि पशु आदि को भी अच्छी हवा, पानी, प्रकाश वृक्षादि छाया व आहारादि सुख मिलते हैं। इनमें से जरा भी सुख न हो वैसे और सतत छेदन, भेदन, दहन, पाचन, शिलास्फालनादि दुःख ही भोगते हों ऐसे कौन ? तो कहेंगे नारक ही।

(३) व्यवहार में एक खून की एक बार फांसी मिलती है तो सहस्त्रों खून करने के अपराधों के फल कहां ? कहना होगा,–एक नरक ही ऐसा स्थल है जहां गए पापी को कटा जाने पर भी मृत्यु नहीं होती है, अतः फिर फिर वह शरीर अखंड होता हुआ बार बार छेदन–भेदन सहता है।

(४) असत्य भाषण के हेतु भूत भय, राग, द्वेष, मोह, अज्ञान जिन्हें नहीं ऐसे सर्वज्ञ प्रभु नारक विद्यमान होने का कहते है, यह असत्य कैसे हो सकता है ?

तब 'परलोक में नारक नहीं' इस वेद वचन का अर्थ क्या ? इतना ही कि नारक मर कर तत्काल दूसरे ही भव में नारक नहीं होते।

इस समझाइश से अकंपित मान गए, और अपने ३०० के परिवार के साथ प्रभु के शिष्य बने।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

नौवें गणधर–अचलभ्राता

क्या पुण्य–पाप हैं ?

अब नवें अचल भ्राता ब्राह्मण से प्रभु कहते हैं,—'पुरुषेवेदं निं सर्वं' जो कुछ है वह पुरुष ही है इत्यादि वेद वचन से तुम्हें पुण्य–पाप जैसी वस्तु होने के विषय में शंका हुई । इसमें—

पुण्य पाप के सम्बन्ध में पांच विकल्प, पांच मत उपस्थित हुए:– (१) अकेला पुण्य ही होता है, पाप नहीं, (२) अकेला पाप ही होता है, पुण्य नहीं, (३) पुण्य–पाप विविध रंगमय मणि की भांति मिश्रित ही रहकर संमिश्र सुख-दुःख देते हैं, (४) पुण्य–पाप स्वतन्त्र रहकर भिन्न भिन्न फल सुख और दुःख देते हैं, (५) पुण्य अथवा पाप कुछ भी नहीं, स्वभाव से सुख या दुःख मिलता है ।

इसमें (१) प्रथम विकल्प में प्रश्न हो कि अकेले पुण्य में, दुःख कैसे मिले? इसका उत्तर यह है कि पथ्य आहार की भांति पुण्योदय की वृद्धि में सुख बढ़ता है और हानि में दुःख बढ़ता है, जब कि (२) द्वितीय विकल्प में कुपथ्य आहार की भांति जैसे पापोदय बढ़ता है वैसे दुःख भी बढ़ता है, पापोदय के घटते ही दुःख का क्षय हो जाता है, और उसका स्थान सुख ले लेता है । दोनों विकल्पों में पुण्य–पाप का अत्यन्त क्षय होने पर मोक्ष हो जाता है । (३) तीसरे विकल्प में पुण्य की मात्रा बढ़ जाय तो अकेली 'पुण्य' की संज्ञा से पहिचान होती है । इसी तरह अधिक पाप–मात्रा में इससे विपरीत । (४) चौथा विकल्प इसलिए

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि सुख दुःख का एक साथ अनुभव नहीं, इससे स्वतन्त्र अनुभव रूप कार्य के लिए कारणभूत भिन्न भिन्न पुण्य और पाप की आवश्यकता रहती है। (५) पांचवे विकल्प में वायु तिरछी बहे, अग्नि ऊंची ही जाय, कांटे वक्र–टेढ़े तिरछे हों यह जैसा उनका स्वभाव है, वैसे ही पुण्य पाप के बिना ही सुख दुःख भव-वैचित्र्य के स्वभाव से ही होते हैं।

१,-२,-३,-तथा ५–ये चारों विकल्प गलतः—

इनमें चौथा विकल्प ही युक्ति–संगत है, शेष युक्ति–विरुद्ध है। यह इस प्रकारः—

यदि स्वभाव से ही जगत् वैचित्र्य होना कहते हो, तो स्वभाव का अर्थ क्या ? (१) वस्तु ? (२) निर्हेतुकता ? अथवा (३) वस्तुधर्म ?(इस सम्बन्ध में पूर्व में दूसरे गणधर में कहा गया है तदनुसार।) सारांश, कारणभूत मूर्त वस्तुधर्म पुण्य–पाप मानने चाहिये।

दो प्रकार के अनुमान से स्वतन्त्र पुण्य व पाप की सिद्धिः

कारणानुमानः 'दानादि क्रिया और हिंसादि क्रिया रूप विचित्र कारणों के कार्य विचित्र होने ही चाहिये, जैसे गेहूँ और डांग के बीज के कार्य। तथा

कार्यानुमानः 'जनक माता पिता सदृश होने पर भी दो पुत्रों में सुरूपता आदि विचित्र कार्य के पीछे विचित्र कारण होने ही चाहियें,—इन दो प्रकार के अनुमानों से पुण्य–पाप सिद्ध होते हैं।

(३) प्रधान कारण भी कार्य के अनुरूप होता है, सोने के कलश का कारण सोना ही और तांबे के कलश का कारण तांबा ही होता है। इसी तरह सुख का कारण पुण्य कर्म और दुःख का कारण पाप कर्म,–ऐसे दो विलक्षण कार्यों के कारण भी विलक्षण मानने ही पड़े।

पुण्य–पाप अरूपी क्यों नहीं:

प्र०– ऐसे तो सुख दुःख आत्मपरिणाम स्वरूप होने से अरूपी हैं तब इनके कारणभूत पुण्य–पाप अरूपी ठहरेंगे ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

उ०—कारण सर्वथा सर्व धर्मों से कार्यानुरूप अथवा सर्वथा कार्य से विलक्षण होते नहीं, क्योंकि तब तो पहिले में कारण कार्यरूप ही हुआ, अथवा कार्य कारणरूप ही हुआ। यदि सर्व धर्मों से अनुरूप ही कारणत्व–कार्यत्व दो भिन्न धर्म होते, फिर एक कारण और अन्य कार्य यह क्या ? एवं सर्वथा सर्व धर्मों से विलक्षण कहने में यह आपत्ति है कि एक में यदि वस्तुत्व धर्म है तो इससे सर्वथा विलक्षण अपवस्तुत्व धर्म ही अन्य में आ गिरेगा, अर्थात् वह अवस्तु ही सिद्ध होगी ! तब तो फिर वस्तु–अवस्तु का कार्य–कारणभाव ही क्या ?

मात्र कार्य कारण ही क्या, **जगत की वस्तुमात्र परस्पर समान–असमान अनुरूप-विलक्षण होती हैं।** फिर भी विशेष कर प्रधान कारण कार्य के अनुरूप कहलाता है इसका अर्थ यह है कि यह कार्य कारण का स्वपर्याय है। और अन्य कार्य कारण का पर–पर्याय है। कारण के ये स्व–पर्याय पर–पर्याय इसी कारण के अनुरूप–अननुरूप, समान–असमान होते हैं। प्रस्तुत में जीव–पुण्य का संयोग यह कारण है, इसका कार्य सुख यह इसका स्व–पर्याय है। सुख जैसे शुभ, शिव कहलाता है वैसे ही पुण्य भी; अतः इस प्रकार अनुरूपता है। बाकी सुख अमूर्त है तो इसका कारण अमूर्त ही हो ऐसा नियम नहीं; क्योंकि अनुरूपता सर्वथा नहीं किन्तु अंश से होती है।

(अ) अन्नादि यह सुख के कारण होते हुए भी अमूर्त कहां हैं ? मूर्त ही हैं। इसी तरह कर्म भी मूर्त हैं।

प्र०—तो फिर अकेले अन्न–पुष्पहार–चंदनादि को ही सुख का कारण मानो, कर्म की क्या आवश्यकता है ?

उ०—ठीक है, तो प्रश्न है कि कहीं या कभी अन्नादि बाह्य साधन तुल्य होने पर भी सुख में अन्तर होता है, यह क्यों ? कहना होगा कि विलक्षण कर्म के कारण ही ऐसा होता है।

(आ) तथा, कर्म मूर्त है, क्योंकि कर्म मूर्त देह का और देहबलाधान का कारण है; जैसे,–मूर्त तेल मूर्त घड़े को दृढ़ करता है।

(इ) कर्म मूर्त है, क्यों कि मूर्त पुष्प–चंदनादि विषयों से पुष्ट होते हैं।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सुख अरूपी, देह रूपी, इसके कारण कर्म का स्वरूप कैसा ?:–

प्र०—कर्म का कार्य, (१) देहादि तो मूर्त है, और (२) सुख दुःख, क्रोध-मानादि ये अमूर्त हैं; तो कारण मूर्त ही अथवा अमूर्त ही ऐसा नियम कैसे बने ?

उ०—कार्य सुखादि का समवायी कारण तो कर्म नहीं परन्तु जीव है । यह तो अमूर्त है ही । अर्थात् अमूर्त कार्य का अमूर्त कारण मिल के रहा । अब कर्म की बात,-कर्म को असमवायी कारण होने से ब्राह्मी आदि की भांति मूर्त होने में बाधा नहीं है । इस प्रकार स्वभाववाद का निराकरण और कर्मवाद सिद्ध हुआ ।

अब अकेले पुण्य अथवा पाप की मान्यता का निराकरण इस प्रकार,

(३) पुण्य के उत्कर्ष से सुख का उत्कर्ष तो ठीक है; परन्तु पुण्य के अपकर्ष (हानि) से सुख का अपकर्ष हो, किन्तु दुःख बहुलता कैसे ? यह तो पाप के उत्कर्ष से ही होना चाहिये । पथ्य आहार घटने पर शरीर की पुष्टि कम हो, यह घट सकता है; परन्तु उससे रोगवेदना का जन्म या वृद्धि थोड़े ही हो सकती है ? यह तो कुपथ्य आहार की वृद्धि हो तभी होती है ।

(४) पुण्य घटने से छोटी और कम शुभ देह मिले यह तो ठीक है, परन्तु स्थूल और अशुभ हाथी–मत्स्य आदि की अथवा नरक की देह कैसे मिले ? अल्प सुवर्ण से छोटा ही सही, पर कलश सोने का ही बनता है, मिट्टी का नहीं ।

(५) इस प्रकार अकेला पाप मानने वाले को भी यह आपत्ति है कि पाप के उत्कर्ष से दुःख-वृद्धि तथा पाप के अपकर्ष से दुःख का ह्रास हो, परन्तु सुख वृद्धि कैसे हो सकती है ? पाप अल्प भी दुःख का कारण हो सकता है, पर सुख का नहीं । विष अल्प ही मात्रा में हो तब भी वह आरोग्य वर्धक नहीं हो सकता ।

संमिश्र पुण्य–पाप का मत मिथ्या :—

(६) संमिश्र पुण्य पाप जैसा तो कोई कर्म ही नहीं है, क्योंकि ऐसे कर्म का उत्पादक कोई कारण नहीं है । कर्म के कारण रूप में शुभाशुभ मन, वचन,

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

काय योग गिना जा सकता है, (मिथ्यात्वादि कारण को तो अशुभ योग में अंतर्भूत कह सकते हैं), परन्तु एक समय में या तो शुभ, अथवा अशुभ, एक ही प्रकार का योग चलता है, और इससे तो या तो पुण्य, अथवा पाप एक का ही बन्ध होता है ।

द्रव्य योग–भाव योग : भाव योग अमिश्र ही :—

प्र०—शुभाशुभ मिश्रित योग दीखता है न ? उदाहरण के लिए अविधि से दान देने का विचार या उपदेश, या अविधि से जिन पूजा; यह अनुक्रम से शुभाशुभ मनोयोग–वाग्योग–काययोग है ।

उ०—नहीं; योग द्विविध है,—द्रव्य और भाव । इसमें योग-प्रवर्तक द्रव्य और मन–वचन-काय क्रिया, यह है द्रव्य योग, और उभय का हेतुभूत अध्यवसाय यह है भावयोग । द्रव्य योग में शुभाशुभ मिश्र भाव व्यवहार नय से होता है, परन्तु निश्चय नय से नहीं, वैसे ही भावयोग में मिश्रभाव नहीं । इसमें तो अकेला शुभ या अकेला अशुभ अध्यवसाय ही होता है । शुभाशुभ कोई अध्यवसाय नहीं होता । आगम में दो शुभ ध्यान, तीन शुभ लेश्याएं दो अशुभ ध्यान तथा तीन अशुभ लेश्याएं कथित हैं, परन्तु मिश्र कोई ध्यान लेश्या कथित नहीं है । (ध्यान के अन्त में लेश्या प्रवर्तित रहती है) । भावयोग लेश्या–ध्यानात्मक होता है । यह शुभाशुभ नहीं, अतः पुण्य पाप मिश्रित कोई बन्धन नहीं होता ।

संक्रम में मिश्रित कर्म नहीं :—

प्र०—शुभाशुभ कर्म में अशुभ–शुभ कर्म का परस्पर में संक्रम (अंतःप्रवेश, अंतर्मिलन) होता है, वह मिश्रित कर्म हुआ न ?

उ०—जैसे शुभ भाव से शुभ कर्म का बन्ध होता है, वैसे पूर्व बद्ध अशुभ कर्म का इस शुभ कर्म में संक्रमण होता है; वैसा ही अशुभ भाव से शुभ बन्ध, व अशुभ का शुभ में संक्रमण होता है । मिथ्यात्व का बन्ध होने के पश्चात् यदि विशुद्ध परिणाम हो, तो उसमें से समकित–मोहनीय का शुद्ध पुंज तैयार होता है, उसका जीव पुनः मिथ्यात्व ज ते ही मिथ्यात्व में संक्रमण (प्रवेश) कर लेता है । इसी तरह संक्रमण मूल कर्म–प्रकृतिओ का नहीं, परन्तु आयुष्य कर्म

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

और दर्शनमोह –चारित्र मोह को छोड़कर उत्तर प्रकृतियों का ही संक्रमण होता है। अब देखो कि बद्ध होते शुभ शातावेदनीयादि कर्म में पूर्वबद्ध अशातावेदनीयादि अशुभ कर्म का अथवा बद्ध होते अशुभ में पूर्व बद्ध शुभ कर्म का संक्रमण होता है, वह शुभाशुभ मिश्रकर्म जैसा दीखता है; किन्तु वहां तो संक्रमण होने के पश्चात् एक ही शुभ अथवा अशुभ स्वरूप रहता है। संक्रमित होने वाले का स्वरूप तो नष्ट हो जाता है और संक्रमण जिसमें हुआ उसी कर्म का स्वरूप रहता है। जैसे–शाता में अशाता का संक्रमण होता है, अंतर्मिलन होता है, वहाँ अशाता का स्वरूप मिट कर शातारूप ही हो जाता है, अतः मिश्रित पुण्य–पाप जैसा कोई कर्म नहीं।

सारांश, पुण्य और पाप दोनों स्वतन्त्र कर्म हैं। मिश्रित होते तो देवताओं को केवल सुख-बहुलता और नारकीय जीवों को केवल दुःखातिशय नहीं होता। अतः ये दोनों बहुलता के भिन्न निमित्त स्वतन्त्र पुण्य और स्वतन्त्र पाप सिद्ध होते हैं।

(७) तथा जगत में अच्छी, बुरी और इसके अभावरूप स्वतन्त्र राशियाँ दिखाई देती हैं, जैसे—मीठा, कडुआ व फीका रस, परन्तु शुभ का अभाव ही अशुभ, या अशुभ का अभाव ही शुभ इतना ही नहीं। मीठा के अभाव में फीका होता है, कडुआ नहीं; कडुआ स्वतन्त्र रस है। रोग मिटा तो आरोग्य तो आया, परन्तु अतिरिक्त शक्ति नहीं आई। यह लाने के लिए अलग दवाई लेनी पड़ती है। दुर्जनता के अभाव में सज्जनता तो कहलाती है, परन्तु महासुकृतकारिता नहीं। अति घोर दुष्कृतकारी तो केवल पाप का भागी होता है परन्तु पुण्य के लेश का भागी नहीं। इस प्रकार महा सुकृतकारी भी महापुण्योपार्जन अवश्य करता है, परन्तु पाप का लेश भीउ पार्जन करता है ऐसा नहीं। सुकृत-दुष्कृत्य, शुभभाव–अशुभभाव, आदि एक दूसरे के अभावरूप नहीं, किन्तु स्वतन्त्र हैं; अतः इनके कार्य पुण्य और पाप भी स्वतन्त्र ही होते हैं।

पुण्य–पाप सम्बन्धी कुछ आवश्यक निर्देश :—

अच्छे वर्ण–रस-गध-स्पर्श आदि फल दे वह पुण्य कर्म और बुरे दे वह पाप कर्म। ये कर्म सूक्ष्म कार्मण वर्गणा नामक पुद्गल में से बनते हैं अतः ये

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भी सूक्ष्म होते हैं स्थूल नहीं होते, इसी प्रकार परमाणु स्वरूप भी नहीं होते। ये जैसे तेल चुपड़े हुए शरीर पर रज चिपकती है, उस तरह राग द्वेष से चिकनी बनी हुई आत्मा पर मध्य के शुद्ध स्वच्छ आठ रूचक–प्रदेश के अतिरिक्त सर्व आत्म–प्रदेश के साथ इसी के अवगाहित आकाश में रहे हुए कर्म–पुद्गल चिपकते हैं। आत्मा और कर्म दोनों की ऐसी परस्पर योग्यता है कि चिपकते हुए कर्म को आश्रयभूत आत्मा अपने शुभ या अशुभ परिणाम के अनुसार शुभ या अशुभ कर देती है। (साथ ही कर्म की प्रकृति–स्थिति–रस–प्रदेश भी निश्चित कर देती है।) आश्रय-भेद से कार्य-भेद होता है। उदाहरणार्थ वही पानी गाय में दूध के रूप में, और सर्प में विष के रूप में परिणत होता दिखाई देता है। अथवा एक ही प्रकार का भी आहार पाचन-शक्ति के अनुसार रस रुधिर आदि धातुओं और मलमूत्र कफादि में परिणत होता है। वैसे ही कर्म पुद्गलों को शुभ भाव शुभरूप में व अशुभ भाव स्वतन्त्र अशुभ रूप में बना देता है।

शुभ पुण्यकर्म तत्त्वार्थ शास्त्र के अनुसार समकितमोहनीय–हास्य रति–पुंवेद तथा शाता वेदनीय, शुभ आयुष्य-नाम–गोत्र की कुल ४६ कर्म प्रकृतियां हैं। शेष सभी पाप कर्म रूप हैं। कर्मग्रन्थमतानुसार समकितमोहनीय–हास्य–रति-पुंवेद ये चार पाप कर्मरूप हैं, क्यों कि ये जीव को विपर्यास करवाते हैं। इनमें समकित-मोह शंकादि अतिचार लगाता है और मूल में तो मिथ्यात्व कर्म के दलिक [पुद्गलस्कन्ध] हैं अतः अशुभकर्म रूप हैं।

इस प्रकार समझाने से अचलभ्राता को सच्चा ज्ञान हुआ, और उन्होंने भी प्रभु के पास अपने ३०० के परिवार के साथ दीक्षा ली।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

दसवें गणधर–मेतार्य

क्या परलोक है ?

अब दसवें मेतार्य नाम वाले ब्राह्मण से प्रभु कहते हैः—

'विज्ञानघन एव....न प्रेत्यसंज्ञास्ति,' 'अग्नि होत्रं....स्वर्ग कामः' आदि परस्पर विरुद्ध वेद–वचनों से तुम्हें शंका हुई कि परलोक जैसी कोई वस्तु है क्या ?

परलोक का न होना इसलिए लगा कि—

(१) वस्तु की शुक्लता की भांति चैतन्य भूतपिंड का है। वस्त्र-नाश पर शुक्लता के नाश की भांति भूतपिंड के नाश पर चैतन्य स्वयं नष्ट हो जाता है; तो परलोक गमन क्या ?

(२) चैतन्य भूत से भिन्न हो, तो भी काष्ठ में से प्रकटित ज्वाला की भांति विनश्वर हो सकता है, नित्य नहीं, इसीलिए भी परलोक नहीं।

(३) नित्य भी वस्तु यदि सर्वव्यापी हो तो इसे कहीं जाना नहीं होता, अतः परलोक गमन नहीं।

(४) परलोक के रूप में नरक–स्वर्ग दीखते ही नहीं हैं, तब क्या परलोक ?

परन्तु परलोक है इसकी पुष्टि देखिये—

(१) पूर्व कथित अनुमानों से चैतन्य भिन्न स्वतन्त्र आत्मा का ही धर्म सिद्ध होता है भूतों का नहीं। जाति–स्मरणादि कारणों से सिद्ध होता है कि परलोक

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

से आगत आत्मा है। यह द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य चेतन आत्मा है।

(२) एक[1] सर्वगत[2] निष्क्रिय[3] आत्मा नहीं हो सकती, क्योंकि (i) राग-द्वेष विषयकषायाध्यवसाय-शुभाशुभ भावना-नारकत्वादि कार्य भेद से भिन्न आत्माएं हैं; (ii) शरीर में ही वे गुणदृष्टिगोचर होने से शरीरमात्र व्यापी है, (iii)और वह भोक्ता व गति-संचरणकर्ता होने से सक्रिय आत्मा सिद्ध होती है।

(३) प्र०— (अ) आत्मा यदि विज्ञानमय है, तो विज्ञान उत्पत्तिशीलता से अनित्य है जिससे आत्मा भी अनित्य रही, फिर परलोक किसका ?

(आ) यदि विज्ञान आत्मा से भिन्न हो तो आत्मा नित्य रह सकती है, परन्तु इसमें तो विज्ञान से भिन्न शुद्ध आत्मा का शुद्ध गगनवत् अथवा अज्ञान काष्ठवत् परलोक कैसा ? नित्य में यदि कर्मकर्तृत्व-भोक्तृत्व हो, तो सदा कर्तृत्वादि चलते ही रहें ! परन्तु ऐसा तो है नहीं। इसलिए आत्मा अनित्य है। ऐसे अनित्य में परलोक कैसे घटित हो ?

उ०—विज्ञान में उत्पत्तिशीलता से नित्यता भी सिद्ध कैसे न होगी ? आश्चर्य होगा उत्पत्तिमान और नित्य ? हां, घड़े में भी अकेली अनित्यता नहीं है, परन्तु नित्यता भी है, क्योंकि घड़ा क्या है ? अकेला आकृतिरूप नहीं, परन्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, तूम्बाकार आकृति, जलाहरणादि शक्ति आदि का घन है। पूर्व के मिट्टी के पिंड में भी यह रूपादि था, मात्र आकृति और शक्ति नहीं थी। इसका अर्थ यह कि घड़ा रूपादि रूप से नवनिर्मित नहीं परन्तु ध्रुव है, और नवीन आकृति शक्ति रूप में उत्पन्न है। अब मिट्टी का पिंड अपनी आकृतिशक्ति के रूप में नष्ट है। यही घड़ा भी श्याम आदि पूर्व पर्यायरूप से नष्ट भी होता है। इस प्रकार घड़ा ध्रुव और उत्पन्न-विनष्ट अर्थात् अध्रुव, यानी नित्यानित्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार सभी द्रव्य और आत्मा भी नित्यानित्य सिद्ध होते हैं। इसमें आत्मा घट के पश्चात् पट देखती है, वही घटविज्ञानरूप पर्याय से नष्ट, पटविज्ञानरूप पर्याय से उत्पन्न और जीवत्व रूप से ध्रुव होती है। इस तरह मनुष्य मर कर देवता हुआ वहीं मनुष्यत्व रूप से नष्ट, देवत्व रूप से नवोत्पन्न और जीवत्व रूप से तदवस्थ है। इसलिए परलोक घटित हो सकता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

सत् वस्तु मात्र उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य त्रिस्वभाव है, क्योंकि सर्वथा असत् उत्पन्न होता नहीं, अन्यथा असत् अश्वशृंगादि की उत्पत्ति हो ! सत् सर्वथा ही नष्ट नहीं होता, अन्यथा क्रमशः सर्व प्रलय हो जाय ! अतः वस्तु अमुक रूप में सत् यानी अवस्थित रह कर अमुक रूप में उत्पन्न और अमुक रूप में नष्ट हुआ करती है। राजकुमार का प्रिय स्वर्ण कलश तुड़वा कर राजकुमारी का प्रिय स्वर्ण नूपुर बनवाया गया, तो इसमें वस्तु एक ही है परन्तु इसके रूपक तीन हैं। यही वस्तु पर कलश–रूप नष्ट होने से राजकुमार को शोक, व नूपुर–रूप उत्पन्न होने से राजकुमारी को हर्ष होता है, और स्वर्ण–रूप में वैसा ही कायम रहने से राजा मध्यस्थ भाव में रहता है।

(४) परलोक न हो तो स्वर्गहेतुक अग्निहोत्रादि के विधायक वेदवाक्य निरर्थक सिद्ध होंगे।

प्रभु के इस प्रकार समझाने से मेतार्य निःशंक बने, और ३०० परिवार के साथ प्रभु के पास दीक्षित हुए।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ग्यारहवें गणधर–प्रभास

क्या मोक्ष है ?

ग्यारहवें प्रभास नामक ब्राह्मण से प्रभु कहते हैं—

'हे आयुष्मन् प्रभास ! तुम्हें जरामर्यं वैतत् सर्वं यदग्निहोत्रम्' 'द्वे ब्रह्मणी, परमपरं च'—ऐसी दो विरुद्ध प्रकार की वेद–पंक्तियां मिलीं, इनमें यावज्जीव अग्निहोत्र करने का विधान होने से और इसका फल तो स्वर्ग ही होने से ऐसा लगा कि मोक्ष जैसी वस्तु ही नहीं होती, अन्यथा वेदशास्त्र ऐसा उपदेश क्यों दें ? परन्तु ब्रह्म आत्मा के 'पर', 'अपर' ऐसे दो स्वरूप कहें, उसमें तो 'पर' अर्थात् शुद्ध–बुद्ध–मुक्त, इससे तो मोक्ष का प्रतिपादन मिला । अतः शंका हुई कि मोक्ष–वस्तु होगी या क्या ?

मोक्ष न होने का विश्वास इसलिये हुआ कि (१) दीपक अन्त में बुझ जाता है, इस प्रकार आत्मा सर्वथा नष्ट हो जाती है फिर मोक्ष किसका ? (२) कर्म, संयोग अनादि होने से नष्ट नहीं हो सकते, इसलिए संसाराभाव कैसे ? (३) जीव-क्या है ? नारक, तिर्यंच आदि ये ही जीव । इनके नाश पर तो जीवनाश ही माना जाय, फिर मोक्ष क्या ?

परन्तु 'मोक्ष है' इसके प्रमाण ये हैं—

(१) दीपक बुझ गया फिर भी उसकी कज्जल के सूक्ष्म तामस पुद्गल

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

वातावरण में विद्यमान हैं और वे घ्राणेन्द्रिय से अनुभूत होते हैं, अतः सर्वनाश नहीं। इसी तरह जीव का संसार समाप्त होने के पश्चात् सर्वनाश नहीं। पवन से कज्जल उड़ गई या बादल बिखर गए, इससे इसके पुद्गल थोड़े ही सर्वथा नष्ट हो जाते हैं ? पुद्गल के परिणाम विचित्र होते हैं। अभी एक इन्द्रिय से ग्राह्य हो, वही थोड़ी देर में रूपान्तरित होते ही अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बन जाता है। नमक आंख द्वारा दिखाई देने वाला होते हुए भी पानी में घुलने के पश्चात् आंख से नहीं दिखता है; फिर भी इसका यह परिणामान्तर रसना द्वारा ग्राह्य बन जाता है। इस प्रकार मोक्ष होने पर जीव का मात्र परिणामान्तर होता है, सर्वथा नाश नहीं, और वह केवलज्ञान से दिखाई देता है।

(२) स्वर्ण और मिट्टी का पूर्व सम्बन्ध होते हुए भी क्षार–पाकादि उपाय से वियोग हो कर शुद्ध स्वर्ण बनता है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि उपायों से जीव शुद्ध मुक्त हो सकता है।

(३) नारक तिर्यंच आदि तो जीव के पर्यायमात्र हैं; जैसे सुवर्ण के अंगूठी, कंगन आदि; क्योंकि जीव वे वे अवस्थाएं धारण करता है। अंगूठी, कंगन आदि नष्ट होने पर सुवर्ण नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार नारकादि पर्याय नष्ट होने से जीव भी नष्ट नहीं होता।

प्र०—कर्म से तो संसारी जीव था, कर्मनाश होने पर उस का नाश क्यों नहीं ? कारणनाश में कार्यनाश भी होता है, जैसे कि पत्र पर रेखाएं नष्ट होने पर चित्र नष्ट हो जाता है।

उ०—जीव कर्म से सर्जित नहीं है जिससे कि कर्मनाश होने से इसका नाश हो। कर्म तो आवरण रूप है, उपाधिरूप है। इसलिए जैसे बादल का नाश होने पर सूर्य का नाश नहीं होता; एवं घट के नाश के साथ आकाश का नाश नहीं होता, इसी प्रकार कर्म के नाश से जीव का भी नाश नहीं होता। इतना अवश्य है कि कर्म का नाश होने पर कर्मजन्य नारकत्व, तिर्यक्त्व आदि संसार पर्याय का नाश होता है, परन्तु जीव तो जीवत्व रूप मे विद्यमान रहता है, और वह अब मुक्ति–पर्याय वाला बन जाता है।

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(४) मुक्त जीव विनाशी नहीं है, क्योंकि विकार-रहित है, जैसे आकाश।

प्र०—तत्काल नहीं, परन्तु कालान्तर में नष्ट हो ऐसा बन सके न?

(५) उ०—नहीं, आत्मा आकाश की भाँति अमूर्त द्रव्य होने से नित्य है। फिर भी आकाश की भांति सर्वगत नहीं। क्योंकि ज्ञान सुखादि गुणों शरीर में ही उपलब्ध है, तो आत्मा शरीर व्यापी ही होनी चाहिए यह सिद्ध किया हुआ है। इसी तरह वह सदा अबद्ध-अमुक्त नहीं, क्योंकि पुण्य पाप कर्म से बद्ध होती है; अन्यथा दान-हिंसादि क्रिया का फल क्या? इसी प्रकार कर्म वियोग से मुक्त भी होता है। बाकी आत्मा मोक्ष में भी एकान्त नित्य ही क्यों? कथंचिद् नित्य है, क्योंकि इसका ज्ञान परिणाम ज्ञेय-परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित होते रहने से वह उस रूप में अनित्य भी है।

(६) प्र०—संसार के कारणभूत राग-द्वेष तो अनादि हैं इनका संपूर्ण नाश किस प्रकार हो सके? जैसे ज्ञान-चैतन्य अनादि है तो इसका सम्पूर्ण नाश नहीं हो सकता, ऐसा तो तुम भी कहते हो।

उ०—जगत में धर्म दो प्रकार के होते हैं—१. सहभू (स्वभावभूत) व २. उपाधि(निमित्त) प्रयोज्य। (१) सूर्य में प्रकाश सहभू है, तो इसका नाश कभी नहीं होता। बादल के बढ़ने से यह आवृत हो इतना ही, बाकी अत्यन्त गाढ़ बादल आ जाय तो भी थोड़ी-बहुत प्रभा तो खुली रहती ही है, जिससे रात के अपेक्षा विशेषता लगने से दिन होने का पता चलता है। आत्मा में ज्ञान-चैतन्य ऐसा स्वभावभूत धर्म है। (२) स्फटिक में कभी कभी लाल-पीलापन दिखाई देता है वह उपाधि-प्रयोज्य है, व उसके पीछे लगी हुई लाल पीली वस्तुस्वरूप उपाधि के कारण हैं। निमित्त हटते ही लेशमात्र लाल-पीलापन नहीं रहता। आत्मा में राग-द्वेष इस प्रकार के उपाधि-प्रयोज्य धर्म हैं। कर्मरूपी उपाधि के कारण ही वे झलकते हैं। इसलिए कर्म खिसकते ही उनका लवलेश भी न रहे, यह युक्ति-युक्त है। तब फिर विराग और उपशम भावना बढते बढते यदि राग-द्वेष घट जाएं, तो विराग-उपशम की पराकाष्ठा पर पहुंचने पर राग-द्वेष का सम्पूर्ण अभाव क्यों न हो?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

(७) प्र०—एक बार रागादि का अभाव तो हो गया, परन्तु पुनः रागादि विकार न हों, इसमें क्या प्रमाण ?

उ०—वस्तु में विकार दो प्रकार के होते हैं, १. निवर्त्य (पीछे मिट जाय ऐसा) विकार, २. अनिवर्त्य (होने के बाद हटे ही नहीं ऐसा) विकार। (१) सुवर्ण अग्नितप से पिघलता है यह पिघलना यानी द्रुतत्व-द्रवरूप निवर्त्य विकार है, क्योंकि ताप हटते ही क्रमशः यह द्रवरूप मिट कर सुवर्ण पुनः कठोर हो जाता है। (२) काष्ठ अग्नि से जलकर राख हो जाता है, इसे अनिवर्त्य विकार कहते हैं; क्योंकि अब यह राख हट कर पुनः काष्ठ नहीं होती । आत्मा में राग द्वेष निवर्त्य विकार हैं, कर्म–संयोग से होने वाले ये कर्मसंयोग था तब तक रहे, कर्म संयोग हटते ही वे हट गए । अब कर्म संयोग भी, इसके कारणभूत मिथ्यात्वादि नहीं होने से, कभी होगा नहीं, अतः राग–द्वेष भी कभी होंगे नहीं ।

(८) 'अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः ।' यह वेद–पंक्ति भी कह रही हैं कि अशरीरी जैसा कोई व्यक्ति हैं जिसको प्रिय–अप्रिय सांयोगिक सुख–दुःख स्पर्श नहीं करते । ऐसा व्यक्ति शरीररहित मुक्तात्मा है । इससे भी मोक्ष सिद्ध है । यहां ध्यान रहे कि 'अशरीरं...' इस पंक्ति का 'शरीरसर्वनाश से आत्मा भी सर्वथा नष्ट, अतः अब प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं' ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'अशरीरी' पद मात्र अभाव का बोधक नहीं, परन्तु अब्राह्मण–अगोरस आदि पद जैसे ब्राह्मणेतर मनुष्य, गोरसभिन्न अन्नादि को लागू होते हैं, वैसे अशरीरी पद किसी विद्यमान भावपदार्थ पर लागू होता है । नहीं तो 'शरीरनाश' जैसा कुछ कहते । 'अब्राह्मण' जैसा नञ् तत्पुरुष समास पद भी यदि मात्र अभावार्थक नहीं, किन्तु क्षत्रियादि–बोधक होता है, तो 'अशरीर' जैसे बहुव्रीहि समास पद का तो पूछना ही क्या ? फिर 'वसन्तं' पद तो स्पष्ट रूप से किसी के रहने का कह रहा है । मात्र अभाव ही लेना होता तो साथ में 'सन्तं' पद से काम चल जाता, किन्तु 'वसन्तं' कहा इसलिए 'अशरीर' पद से लोकोपरि–स्थित आत्मा ही लेनी चाहिये। 'वा वसन्तं' में 'वा' अर्थात् 'अथवा' कह कर यह सूचित किया है कि सशरीर भी वीतराग को प्रियाप्रिय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

स्पर्श नहीं करते। यहां कोई 'वाऽवसन्त' इस प्रकार 'वा' के बाद यदि 'अ'कार मान कर 'कहीं भी न रहने वाला' अर्थात् 'सर्वथा नष्ट' ऐसा भाव लें, तो गलत है; क्योंकि ऊपर जैसा कहा गया है, अशरीर कोई भाव–पदार्थ ही है, उसके साथ यह घटित नहीं होता।

मोक्ष में ज्ञान की सत्ता:—

(९) प्र०—तो भले ही मोक्ष हो, परन्तु इसमें अब इन्द्रियादि साधन न होने से ज्ञान नहीं होता, अतः वह अजीव के समान होगा।

उ०—ज्ञान यह आत्मा का करणसाध्य आगन्तुक धर्म नहीं, किन्तु सहज स्वभावभूत धर्म है। यह आवरणों से आवृत है। इन्द्रियादि साधन इन आवरणों को आंशिक हटा कर ज्ञान प्रकट करते हैं। तप-संयमादि द्वारा सर्व आवरण दूर होते ही संपूर्ण ज्ञान सदा के लिए प्रकट हो जाता है। इसलिए मोक्ष में सर्वदा ज्ञान होता है।

ज्ञान क्यों आत्मस्वभाव ? :-ज्ञान यदि आत्मा का स्वभावभूत धर्म न हो तो फिर आत्मा का चैतन्य स्वरूप ही क्या ? कुछ नहीं, प्रथम से ही अजीव काष्ठादि जैसा ! ऐसा हो तो (i) 'ज्ञान आत्मा में ही प्रकट हो, परन्तु अजीव शरीर, इन्द्रिय आदि में नहीं, ऐसा क्यों ? तथा (ii) इन्द्रियादि कभी कभी निष्क्रिय होते हुए भी स्मरणादि ज्ञान कैसे हो सके ? (iii) व्याख्यानादि में अदृष्ट अश्रुतार्थ का स्फुरण कैसे व किसे होता है ? (iv) देखने वाली आंख वही होते हुए भी अभ्यास बढने के साथ जवाहरात पर झटिति पहिचान व सूक्ष्म दर्शन चिन्तन होता है यह कैसे ? अतः कहिये कि ज्ञान आत्मा का मूल स्वरूप है। सर्व आवरण हटते ही स्वच्छ आकाश के सूर्य की भांति आत्मा पूर्ण ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित होती है। यदि मोक्ष होने पर ज्ञानवत् सभी धर्म नष्ट ही हो जाते हों तो सत्व–द्रव्यत्वादि भी नष्ट हो जाने चाहिये, और ये यदि मौजूद रहते है तो ज्ञान मौजूद क्यों न रहे ?

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

ज्ञान सर्व-विषयक क्यों ?

प्र०—ज्ञान हो, सर्वज्ञता कैसे ?

(१०) उ०—यह सम्पूर्ण ज्ञान भी त्रिकाल के समस्त लोकालोक के भाव जानता है। अतीत यदि नष्ट है तो. उसे अतीत के रूप में देखता है और अनागत यानी भावी भावों को भावी रूप मे देखता है। ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानना है, मात्र आवरण जितना हटता है उतना ही जानता है। समस्त आवरण नष्ट होने पर समस्त ज्ञेय को जानने में कौन बाधक है? अतीत भी अतीत के रूप में ज्ञेय है ही, अन्यथा अतीत का स्मरण भी न हो। दर्पण छोटा होते हुए भी सामने जितना आता है उसको प्रतिबिम्बित करता है, इसी प्रकार ज्ञान के लिए जितने ज्ञेय हैं, उन सब को वह जान सकता है। अन्यथा मर्यादा बांधने पर तो इतना ही जाने, अधिक नहीं इसमें 'इतना' अर्थात् कितना ? उसका नियामक कौन कि अमुक संख्या के ही ज्ञेय जाने ? अतः ज्ञेय मात्र जानें। इस प्रकार मुक्तात्मा सर्वज्ञ होती है, वह भी ज्ञानस्वरूप से प्रति समय परिवर्तित ज्ञेयों के अनुसार, परिवर्तित रहती है अन्यथा यदि एक ही स्थिर ज्ञान हो, तो वह मिथ्या हो जाय।

मोक्ष में सुख कैसे ?

(११) प्र०—खैर, मोक्ष में दुःख-साधन पापादि नहीं तो दुःख नहीं। किन्तु इसी तरह सुख के साधन पुण्य, और सुख के आधार देह-इन्द्रिय-विषय नहीं होने से सुख भी नहीं न ?

उ०—नहीं, वहां सुख तो अनन्त अव्याबाध है। संसार में भी सुख का आधार देह-इन्द्रिय-विषयों नहीं, क्योंकि सुख का अनुभव देह-इन्द्रियों को नहीं किन्तु आत्मा को होता है, अतः सुख का आधार आत्मा है। सुख आत्मा का धर्म है। देह आदि तो सुख के साधन मात्र हैं और वे भी सांयोगिक सुख के साधन। असांयोगिक सुख में साधन की आवश्यकता नहीं होती। मोक्ष में सर्व-कर्म-रहित आत्मा अगर विद्यमान है, तो इसे ज्ञान की भांति सुख क्यों न हो ? और वास्तव में सुख, किसी विनश्वर वस्तु की अपेक्षा न रखता हुआ सहज स्व-

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

भावभूत हो, वही है । विनश्वर की अपेक्षा रखने वाला सुख तो, उस विनश्वर के नष्ट होते ही दुःख रूप में पलट जायगा । इसीलिए पुण्य-सापेक्ष शाता का सुख वास्तव में दुःख ही है; क्योंकि शुभकर्मोदयजन्य होने से कर्मोदय खत्म होने पर शाता नष्ट, इससे भारी दुःख होता है ।

प्र०— ऐसा तो उल्टा क्यों नहीं कि पापोदयजन्य दुःख सुख ही हैं क्योंकि कर्मोदय जन्य है ?

उ०—ऐसा इसलिए नहीं कि किसी भी अभ्रान्त व्यक्ति को दुःख का सुख रूप से अनुभव नहीं होता है।

प्र०—तब तो फिर इष्ट विषय-संयोग में सुख का भी अभ्रान्त अनुभव है ।

उ०—नहीं, यह तो दुःखरूप होते हुए भी मोहमूढ़ता के कारण सुखरुप लगता है । यह विषयसुख दुःखरूप इसलिए कि (१) जैसे खुजालादि की उठी हुई चल रूपी दुःख के प्रतिकार मात्र रूप से ही खुजाल में सुख लगता है, इस प्रकार विषय की उत्सुकता से प्रज्वलित अरतिरूप दुःख के प्रतिकार रूप में ही सुख लगता है । इसी लिए तो उत्सुकता मिटते ही यही विषयसंयोग सुखरूप नहीं, बल्कि दुःखरूप लगता है । मिठाई अधिक खाने के पश्चात् इसे देखते ही अरुचि होती है । इसका अर्थ यह, कि पेट भर जाने से उत्सुकता की अरति मिटी और कामचलाऊ दुःख-प्रतिकार हो गया, जिससे सुख लुप्त ।

प्र०—बाद में कुछ भी हो, परन्तु आरम्भ में अमुक संयोग-परिस्थिति रहे वहां तक सुख का अनुभव सच्चा न ?

उ०—ऐसे सुख के उपासक ने तो भून्ड—म्लेच्छ का मुंह और नरक का अवतार मांग लेना पड़ेगा । क्योंकि भूंड के मुख की अमुक प्रकार के रस की स्थिति है, अतः उसे विष्ठा में बढ़िया आनन्द आता है । इसी प्रकार म्लेच्छ को परम आनन्द का अनुभव शराब और मांस में होता है । जब कि नरक के जीव को वहां से छूटने की परिस्थिति में अतिशय सुख का अनुभव होता है । यदि यह ग्राह्य हो, तो ऐसी परिस्थिति में जाना चाहिये । वहां यदि कहते हो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

कि यह तो भूंड का मतिविपर्यास है, अथवा नारक को महा दुःख से मोक्षमात्र है, सुख कुछ नहीं, तो यहां भी विषयसंयोग में भासित सुख में अरतिनिवारण मात्र को छोड़कर और क्या है ? कहो, विषयसुख उत्सुकता अरति का प्रतिकार मात्र है। जीमने के लिए बैठते ही महान् आपत्ति के समाचार आते ही पक्वान्न खाने की उत्सुकता–अरति उड़ जाती है, तो वहां पक्वान्न भी सुखरूप नहीं लगता। और

(२) दुःख प्रतिकार भी कामचलाऊ होने से थोड़े समय के पश्चात् पुनः नवीन उत्सुकता–अरति जाग्रत् होती है। उसे मिटाने के लिए फिर नई बेगार करनी पड़ती है.....और इस प्रकार बेगार चलती रहती है। एवं

(३) संसार–सुख सांयोगिक है, देह-इन्द्रिय-विषयादि पर के सापेक्ष है, पर का संयोग बना रहे तो सुख; और संयोगमात्र विनश्वर हैं, इसलिए इसके संयोग की चिन्ता बनी रहती है। अतः ऐसा चिंता–मिश्रित सुख यह दुःखरूप ही है।

अन्य प्रकार से भी (४) संसार–सुख इसलिए दुःख रूप है कि इसका परिणाम अशुभ कर्मबंध, दुर्गति–भ्रमण, और महात्रास विडम्बना है ! सुख के भ्रम में जैसे जैसे जीव विषयसंग करता रहता है, वैसे वैसे उसकी क्षुधा बढ़ती जाती है, और इसके पीछे वह महागृद्धि और पापारंभ करके भावी महा दुःखों और पाप भवों को निमंत्रित करता है। ऐसे सुख को सुख कहना विषमिश्रित लड्डू को सुखरूप मानने के तुल्य है।

(१२) इस प्रकार संसार–सुख उपचरित–औपचारिक होने से कहीं भी निरुपचरित सुख का अस्तित्व होना चाहिये। संसार सुख सांयोगिक पराधीन होने से असांयोगिक–स्वाधीन सुख भी कहीं होना चाहिये। मूल के बिना प्रतिकृति नहीं; मुख्य वस्तु के बिना गौण औपचारिक वस्तु नहीं। सच्चा सिंह है तो किसी व्यक्ति को उपचार से सिंह कहते हैं।

प्र०—मोक्ष में किसी प्रकार के बिषयसंयोग नहीं, तो सुख क्या ?

उ०—मिठाई, लड्डू दो की ही भूख होने पर भी चार खा लिए तो

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

इष्ट विषयसंयोग बढ़ने पर भी सुख नहीं बढता, उल्टा दु:ख का अनुभव होता है, अतः विषयसंयोग और सुख की व्याप्ति कहां रही ? इसके विपरीत, संयोगों से मुक्त मुनि यहां भी महान् सुख का अनुभव करता है। तो सर्व कर्म-संयोग नष्ट होने पर अनन्त सुख का योग क्यों न बने ?

(१३) सुख ज्ञान की भांति आत्म-स्वभाव है, अतः ज्ञानावरण का क्षय होने पर अनन्त ज्ञान प्रगट होता है। इसी तरह वेदनीय कर्म का क्षय होने पर अनन्त सुख प्रकट हो सकता है। वह सुख शातादि की भांति नया-उत्पन्न नहीं किन्तु प्रकटीकृत आत्म-स्वभावरूप है, अतः नित्य है।

'अशरीरं' 'वा वसन्तं.....' वेद-पंक्ति में प्रियाप्रिय का स्पर्श न करने का कहा वह निषेध पुण्य-पापाधीन सुख-दु:ख के सम्बन्ध में है। अर्थात् जैसे सुख-दु:ख मोक्ष में नहीं होते हैं; किन्तु यह निषेध नित्य सहज सुख के सम्बन्ध में नहीं। 'जरामर्यं वा अग्निहोत्रं' का हउसमें 'वा' शब्द सूचित करता है कि स्वर्गार्थी वैसा करे अथवा मोक्षार्थी वैसा न करे। सभी के लिए विधान होता तो 'वा' नहीं कहते।

सारांश, मोक्ष है, और वह अनन्त ज्ञानमय, अनन्त सुखमय है। मुक्तात्मा सदा के लिए ऊपर लोकान्त में स्थिर होती हैं।

प्रभु के इस प्रकार समझाने से प्रभास ब्राह्मण शंका रहित बने, और अपने ३०० विद्यार्थियों के साथ दीक्षा लेकर प्रभु के शिष्य बने।

ग्यारहों ही दीक्षित विप्र मुनि फिर वही भगवान को वंदना कर विनय पूर्वक 'भयवं! किं तत्तं ?—'भगवन् ! तत्त्व क्या है ?' ऐसा प्रश्न तीन बार पूछते हैं, और सुरासुरेन्द्र पूजित जगद्गुरू श्री महावीर परमात्मा ने एक एक बार के प्रश्न के उत्तर में क्रमशः 'उप्पन्ने इ वा' 'विगमे इ वा' 'धुवे इ वा' 'जगत उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, ध्रुव रहता है' ऐसे उत्तर दिये। इन पर चिंतन करने में (i) प्रभु के श्रीमुख से उच्चारित ये उत्तर (ii) अपने पूर्वभव में उपार्जित गणधर नाम कर्म के पुण्य का उदय, (iii) औत्पातिकी आदि बुद्धि, इत्यादि

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

विशिष्ट कारण आ मिलने से ज्ञानावरण कर्म का भारी क्षयोपशम हुआ, और वहीं द्वादशांगी आगम तथा तदन्तर्गत चौदह पूर्वों की रचना की । प्रभु ने इस पर सत्यता की और अन्य को पढाने की मुद्रिका अंकित करते हुए वासक्षेप किया। इस प्रकार ये ग्यारहों ही गणधर महर्षि बनें ।

आत्मा–कर्म–पंचभूत–परलोक–बंध–मोक्ष आदि तत्व समझ कर इनका ज्ञान आत्मसात् करें व निजी अविनाशी आत्मा को बंधन–मुक्त करने का ही मुख्य पुरुषार्थ सभी करे–इसी शुभेच्छा के साथ इस लेख में मतिमंदतादि कारणों से जिनाज्ञा–विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उसके लिए मिच्छा मि दुक्कडं ।

–पू० गुरुदेव सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी के शिष्याणु

भानुविजय

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

श्री जैन साहित्य मंडल-दिव्यदर्शन प्रकाशन
विभाग के सदस्यों की सूची

आजीवन सदस्य

१. जैन श्वेताम्बर तपागच्छ संघ	जयपुर
२. चोपाटी जैन संघ	बम्बई
३. सोभा भाई पुनमचन्द दोशी	कपडवंज

मानद सदस्य

१. हीराचन्द एम. शाह मंडार वाले
२. अचलमल जी मोदी सिरोही वाले

पंचवर्षीय सामान्य सदस्य

१. रणजीत सिंह जी भंडारी	जयपुर
२. जतनमल जी लुनावत	,,
३. कपील भाई केशवलाल शाह	,,
४. मगनमल जी लुनावत	,,
५. सरदारमल जी लुनावत	,,
६. मनोहरमल जी लुनावत	,,
७. केसरीमल जी पालेचा	,,
८. बुद्धसिंह जी हिराचन्द जी वैद	,,
९. गोडी दास जी ढड्ढा	,,
१०. हीराचन्द जी कोचर	,,
११. गुणवन्तराज जी सिंघवी (ACA)	बम्बई
१२. उदयचन्द जी महता सोजत वाले	जयपुर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

१३. प्रतापचन्द जी हीराचन्द जी ढड्ढा	,,
१४. बाबूलाल जी तरसेम कुमार जी जैन	,,
१५. सुरेशचन्द जी महता	पाली
१६. फतेहसिंह जी कर्नावट	जयपुर
१७. दोलतराज जी सिंघवी एडवोकेट	अहमदाबाद
१८. शिखरचन्द जी पालावत	जयपुर
१९, पारसमल जी कटारिया	,,
२०. धनरूपमल जी नागोरी	,,
२१. सुनील कुमार जी संचेती	,,
२२. श्रीपाल कुमार संचेती	,,
२३. दीपक शाह	,,
२४. श्री मदनलाल जी सज्जनसिंह जी	सारंगपुर (M. P.)
२५. पारसमल जी भंशाली	पाली
२६. कनकराज ज्वेरीलाल	ब्यावर

For Private and Personal Use Only

Shri Mahavir Jain Aradhana Kendra www.kobatirth.org Acharya Shri Kailassagarsuri Gyanmandir

पंच वर्षीय योजना में प्राप्य

तत्त्व व अध्यात्म पूर्ण साहित्य

(४० रु० के मूल्य के प्रकाशन मात्र रु० ३१ में प्राप्त करें)

प्रकाशित किये जाने वाली पुस्तकों में से कतिपय

१. **गणधरवाद** (आत्मा–कर्म-पुण्य पाप-परलोक–पंचभूत आदि विषयों पर तर्कपूर्ण विवेचन)

२. **जैनधर्म का संक्षिप्त परिचय** (अनेकानेक विषयों से सभर जैनधर्म क्या है यह समझाने वाला एनसाइक्लो-पीडिया, जैसे कि ९ तत्त्व, मोक्षमार्ग, १० चिंतन, ध्यान, स्याद्वाद .)

३. **मार्गानुसारी जीवन** (रोचक आधुनिक–प्राचीन दृष्टान्तों से युक्त मानवीय जीवन–उत्थान के ३५ उपन्यास

४. **जीवन कला** (जीवन जीने की कला प्राप्त करने हेतु **बाधक ८** मनोमलिनतादि का रमणीय दृष्टान्त सह परिचय

५. **आवश्यक सूत्र–चित्रावलि–अल्बम** (श्री नमस्कार सूत्रादि के अभूतपूर्व ३ [illegible] का संग्रह; जिनमें [illegible]ाव हूबहू सामने

Serving JinShasan
020549
gyanmandir@kobatirth.org

जैन साहित्य प्रकाशन मंडल–दिव्यदर्शन प्रकाशन

आत्मानन्द सभा भवन, घी वालों का रास्ता,

जयपुर-३

For Private and Personal Use Only